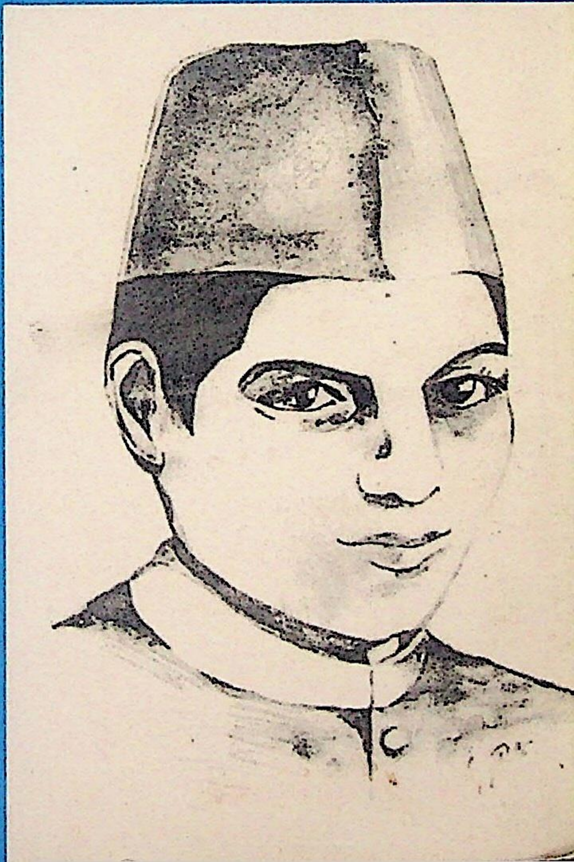
# भुवनेश्वर

गिरीश रस्तोगी



भारतीय साहित्य के निर्माता

# भुवनेश्वर

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

# भुवनेश्वर

गिरीश रस्तोगी

साहित्य अकादेमी

Bhuvaneshwar : a monograph in Hindi on the modern playwright and writer by Girish Rastogi, Sahitya Akademi, New Delhi (2001). Rs. 25.



प्रथम संस्करण : 2001 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए /44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

सी आई टी कैम्पस, टी.टी.टी. आई पोस्ट तारामणि, चेन्नई 600113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-1029-0

मूल्य : 25 रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

# अनुक्रम

# 1

# युग : इतिहास का स्वर

भुवनेश्वर का रचना-काल हिन्दी साहित्य में छायावाद के उत्कर्ष का काल है। उसके बाद विभिन्न आन्दोलन और साहित्यिक प्रवृत्तियों से, पाश्चात्य प्रभावों से पूरे पटल पर जो परिवर्तन होते रहे, भुवनेश्वर का साहित्य उसका साक्षी है। 1920-22 से 1956 तक का उनका रचना-काल विविध मोड़ों और प्रभावों का काल है। अंग्रेज़ी सत्ता के प्रभाव जनता के राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं शैक्षिक जीवन में नये प्रश्न और नयी चेतना ला रहे थे। ब्रिटिश दासता ने पश्चिम की राष्ट्र सम्बन्धी अवधारणा को भारतीय मानस में जगाया और साथ ही भारतवर्ष को धर्म, सम्प्रदाय, भाषा एवं संस्कृतिगत भिन्नता के आधार पर बहुराष्ट्रीयत्व का विष भी फैला दिया, जो वैमनस्य, भेद-भाव, फूट-घृणा और विभाजन का कारण बना और एक तरह का अलगाववाद, साम्राज्यवाद फैलता चला गया। वैचारिक क्षेत्र में राजनीतिक सत्ता प्रमुख होती गयी, भारत की आध्यात्मिक सत्ता कमज़ोर पड़ती गयी। आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों की शृंखला शुरू हुई, भौतिकतावादी दृष्टि पनपने लगी और ये सब प्रभाव परिवार पर, सम्बन्धों पर, स्त्री-पुरुष पर, प्रेम और यौन-सन्दर्भों पर पड़ने लगे, जो साहित्य और कलाओं में कभी छद्म रूप में, कभी खुलकर, कभी व्यंग्य रूप में आने लगे। 1857 के स्वाधीनता संग्राम ने भारतीय जन-मानस में यह हीन भावना घर कर दी कि अंग्रेज़ हर बात में हमसे बढ़-चढ़कर हैं। इस हीनता-बोध से मुक्ति के प्रयास में अपनी जाति और संस्कृति के पुनर्गठन और पुनर्जागरण का स्वर उठा। साहित्यकारों और सामाजिकों दोनों को इसकी चिन्ता हुई।

भारतेन्दु युग से ही आधुनिक यथार्थवादी धारा का आरम्भ हो चुका था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही पश्चिमी जीवन-शैली, विचारों से सम्पर्क बढ़ने के साथ-साथ हमारे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी स्तरों पर परिवर्तन घटित होने लगे। विज्ञान और औद्योगिक प्रसार जैसे-जैसे बढ़ा, हमारा सामाजिक-आर्थिक जीवन उतना ही जटिल होता गया। पश्चिम की लोकतान्त्रिक और व्यक्तिवादी विचारधाराओं ने भारतीय समाज और साहित्य को भी प्रभावित करना शुरू किया। यूरोप का आधुनिकीकरण, डारविन का विकासवाद, फ्रायड का

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्त समूची जन-चेतना में प्रवेश करने लगे। इन विविध प्रभावों का ऐसा संश्लिष्ट तीव्र प्रभाव, घात-प्रतिघात हमारे सामाजिक, वैयक्तिक, आर्थिक जीवन पर होने लगा कि एक क्रान्तिकारी दृष्टि विकसित हुई। पारिवारिक, सामाजिक, जातीय जीवन-मूल्यों में विघटन की प्रक्रिया, सन्देह और अविश्वास का आरम्भ हुआ।

विज्ञान के विकास ने साहित्यकारों को नयी चेतना दी। भावना का स्थान बौद्धिकता ने लिया। प्रचलित पारम्परिक मूल्यों के प्रति अविश्वास, अस्वीकारमूलक विचार पनपने लगे, तो नष्ट मूल्य क्यों हों, क्या हों—इसका कोई बहुत स्पष्ट स्वरूप कभी निश्चित नहीं हो सका, न व्यक्त हो पाया, मध्यवर्ग पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा। प्रत्यक्षतः उसी ने सारे परिणाम, असन्तोष, क्षोभ, विरोध, घुटन, ऊब, कटुता, विपन्नता झेली। मध्यवर्गीय यथार्थ पूरे साहित्य का विषय था। सामान्य व्यक्ति भी साहित्य का विषय बना। नारी-स्वातन्त्र्य, उसकी बौद्धिकता, उसके निजी व्यक्तित्व के सवाल उठने लगे। हर विधा में सभी पात्रों की मानसिक स्थितियों, मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर रचनाकारों का ध्यान जाने लगा। जयशंकर प्रसाद भारतीय और पाश्चात्य प्रभावों, शैलियों का समन्वय कर रहे थे, पर भुवनेश्वर का विश्वास एकीकरण में नहीं था। वे उन अन्तर्बाह्य विसंगतियों, विडम्बनाओं को बड़े सूक्ष्म व्यंग्य, जटिल शिल्प और मौलिक भाषा से पकड़ रहे थे। उनमें स्पष्ट अस्वीकार और विरोध था पारम्परिक ढाँचे का। भुवनेश्वर में लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'बुद्धिवाद' या सुनियोजित 'तर्क' मुख्य नहीं है, बल्कि वे तो उस शाब्दिक समस्या—नाटक का मखौल उड़ाते हैं—"हिन्दी में समस्या-नाटकों का एक सहज आदर्श है। उनके कथोपकथन में 'समस्या' शब्द आ जाना।"...'समस्या नाटक का केवल एक उद्देश्य है, किसी समस्या को एक, हास्यास्पद तुच्छता और असंभवता बना देना। (*कारवाँ*, प्रवेश) भुवनेश्वर अच्छी तरह जानते हैं कि 'विचार स्वातन्त्र्य वा अर्थ है' विचारों का अभाव, जो वर्तमान युग में कोई ट्रेजेडी नहीं है। इसलिए वे सेक्स के प्रश्न भी वैचारिक धरातल पर उठाते हैं—वह भी नाट्य विधा के माध्यम से। हिन्दी नाटक के अ-रंगमंचीय 'टोन' को भी भुवनेश्वर ने तोड़ा।

भुवनेश्वर छायावाद के उस काल में लिख रहे थे, जब व्यक्ति-चेतना जागृत हो चुकी थी, मानव के उदात्त रूप का अन्वेषण किया जा रहा था, बल्कि स्वयं प्रकृति की जड़ता में भी चेतन के दर्शन कर छायावादी कवि मानवीयता का, मानवीय संवेदनाओं एवं क्रियाओं का आरोपण कर रहे थे। नारी व्यक्तित्व को भी प्रसाद, निराला, महादेवी भारतीय मूल्यों के साथ शील, संयम, मातृत्व की गरिमा के साथ चित्रित कर रहे थे। केवल अज्ञेय के उपन्यासों-कहानियों में स्त्री अपने यथार्थ रूप में सामने आती है। 1918 से 1936 तक का समय हिन्दी साहित्य का बेहद परिवर्तनशील समय था। बड़े-बड़े महाकाव्य, लम्बी कविता, शोक गीत, पुराण कथाएँ,

उपन्यास में विविधता—सब कुछ चरम विकास की ओर जाता दीखता है। *कामायनी, राम की शक्ति पूजा, सरोज स्मृति, गोदान* जैसी सार्थक, आधुनिक, द्वन्द्वात्मक चेतना से पूर्ण और मानवी विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति लेकर ये कालजयी कृतियाँ अलग आ रही थीं और भगवतीचरण वर्मा का *चित्रलेखा* उपन्यास अलग अपनी रोमानी छवि लिये था। भारतीय सन्दर्भ में देखें, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरतचन्द्र ने भी नारी को उदात्त मूल्यों, सामाजिक प्रश्नों और वैयक्तिक इच्छाओं, आज़ादी के बीच जूझते दिखाया—वह युग ही इस अनुभव का था। मन और संस्कार का द्वन्द्व प्रतिष्ठित हो चुका था। साहित्यिक और सांस्कृतिक धरातल पर स्त्री को रूढ़ियों से, पुरुष-अधिकार से मुक्त करने का यथार्थ अवश्य उभर रहा था, स्वयं शरत बाबू, पतिता, वेश्या का यथार्थ पूरी मानवीय संवेदना से चित्रित कर रहे थे, पर राजनीतिक-सामाजिक जीवन में भी प्राचीन संस्कारों और वर्तमान यथार्थ का संघर्ष चल रहा था। गुजराती एवं मराठी उपन्यासों में भी नारी उदात्त चेतना से मुक्त थी। साहित्य में संस्कार स्थापित करने की होड़ लगी थी। पूरे देश में एक दिशाहीन टकराहट का द्वन्द्व साकार हो रहा था। उस समय कवियों की कविताओं में समाज परिवर्तन की यही आकुलता मिलती है—'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए।' भुवनेश्वर बाहर से जितने अस्थिर, अव्यवस्थित और विवादास्पद थे, भीतर से उतने ही संयमित, विचारवान और अनुभवी, गम्भीर और मानवीय थे।

भुवनेश्वर के जीवन की अस्थिरता को समझने के लिए 1930 से 1945 तक के संघर्षशील, द्वन्द्वपूर्ण वातावरण को समझना ज़रूरी है। यह पूरे फलक पर बहुत कुछ विपन्नता का, भीतर तक आन्दोलित होने का दौर था। अंग्रेज़ी शासन ने जिस तरह देश का भयानक शोषण और दमन कर डाला था, उसमें सब डूब गये थे—पूँजीवादी भी और साम्राज्यवादी भी, आम आदमी भी। उस समय मध्यवर्ग की स्थिति सबसे दारुण थी। इस मध्यवर्ग का भोक्ता स्वयं लेखक भी था। क्यों भुवनेश्वर एक जगह टिक कर नहीं बैठ सके? उस बदलते समय, समाज के बीच उठनेवाले प्रश्नों को लेकर भी वे बेहद बेचैन थे और अपनी विपन्नता से भी। भुवनेश्वर बहुत स्पष्ट थे कि प्रतिभाशाली लेखक का अधिकार है कि समाज उनके लिए कुछ करे। अगर लेखक अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ निचोड़ कर देता है, तो क्या समाज का कर्त्तव्य नहीं कि वह प्रतिभाशाली लेखक का सम्मान करे?

भुवनेश्वर के समकालीन और घनिष्ठ मित्र कवि गिरिजाकुमार माथुर और कवि शमशेर बहादुर सिंह—दोनों उस समय के और बदलते समय की पीड़ा के भोक्ता भुवनेश्वर के विषय में कहते हैं कि "वह समय नियतिवादी निराशा और यथार्थ की टकराहट का था। ऐसे सन्धि काल में नयी अग्रगामी चेतनावाले व्यक्ति को उचित अवसर नहीं मिला, नौकरी नहीं मिली। अद्वितीय प्रतिभाशाली व्यक्ति बिना

आर्थिक आधार का था। एक 'रनिंग स्टोन' की तरह टकराता रहा। समय की आँधी में एक प्रतिभाशाली पत्ते की तरह उड़ता चला गया और वैसे ही जीवन और साहित्य दोनों से उड़ गया।" उनके समकालीन कवि समझ रहे थे कि वह छायावादी कुहासे के लेखक नहीं हैं। उनकी आरम्भ की कविताओं में छायावादी प्रभाव हैं, पर उनमें भी यथार्थ के बिन्दु बड़े तेज़ चमकते हैं। भुवनेश्वर के अध्ययन, अनुभव और तीव्र संवदेना का दायरा बहुत सघन और व्यापक था, जो उनके एकांकी, कहानी और स्केच विधा में खुलकर आया। अभिजात्य मुखौटे को तो उन्होंने उतार फेंका। समाज की विद्रूपताओं और विडम्बनाओं का रोमांचक दस्तावेज़ उनके एकांकी लगते हैं। उनके एकांकियों में, कहानियों में बात अलग-अलग, स्पष्ट नज़र नहीं आती, वे सब इतनी आत्मीय संवेदना के साथ एक-दूसरे से घुले-मिले रहते हैं कि उन्हें पढ़ने के बाद बहुतों को उस समय जैनेन्द्रकुमार जैसा शक्तिशाली यथार्थवादी और मनोविश्लेषणवादी कथाकार, सिद्धान्त और भाषा का शिल्पी लगता है।

भुवनेश्वर किसी साहित्यिक वाद से बँधे नहीं थे, यद्यपि वे मार्क्सवाद से जुड़े, उसके प्रचारक भी थे और 'प्रगतिशील लेखक संघ' से भी जुड़े थे। सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के लिए उन्होंने साम्यवाद की ओर देखा। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के समय से हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का आरम्भ होता है। उस समय रचना-कर्म को राजनीति से आक्रान्त न होने देने पर बल दिया गया। "साहित्य को राजनीतिक से ऊपर रहना चाहिए।" प्रेमचन्द के इस सत्य के भुवनेश्वर भी पक्षधर थे। वे 'वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर देखते थे।' हिन्दी कविता में प्रयोगवाद का दौर, कुण्ठा, संत्रास, ऊब, हताशा और उसकी नयी अभिव्यक्ति का प्रयोगों का दौर था, जिसके प्रवर्त्तक अज्ञेय थे। *तारसप्तक* (1943) में हिन्दी के सात कवियों का एकत्र होना आधुनिक संवेदना को, आधुनिकता की अवधारणा को रेखांकित करता है। पश्चिम और साम्यवाद की जो विचारधाराएँ बराबर टकरा रही थीं, उस टकराहट के बीच इन कवियों की कविताएँ एक प्रकार से उनकी बेचैनी और तलाश की अभिव्यक्ति हैं। मूल्यों के संक्रमण और मूल्यहीनता की स्थिति रचनाकारों के लिये दायित्वपूर्ण और त्रासद स्थिति थी, जिसे भुवनेश्वर ने पूरी तरह झेला और रचनाओं से दो टूक लहज़े में उतारा। उनमें कोई संशय, दुविधा, भय नहीं है।

एक तरफ़ साहित्यिक–सांस्कृतिक धरातल पर रोमानी दौर था, दूसरी ओर राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में संस्कार और यथार्थ का द्वन्द्व उभर रहा था। गाँधी के विचार, सत्य, अहिंसा राजनीति में आये और यथार्थ का आन्दोलन रुक गया। गाँधी के राजनीतिक आन्दोलन ने नारी को अधिक यथार्थवादी, सक्रिय और गतिशील बनाया। भुवनेश्वर ने जब लिखना आरम्भ किया, तो गाँधी जी 1930 के आन्दोलन में जूझ रहे थे। भगत सिंह को फाँसी और काँग्रेस द्वारा सम्पूर्ण आज़ादी का संकल्प।

प्रसाद की मृत्यु, निराला की विक्षिप्त अवस्था। प्रेमचन्द *गोदान* में लगे थे। समीक्षकों द्वारा प्रसाद के नाटक अ-रंगमंचीय घोषित किये जा चुके थे। दूसरी ओर पश्चिमी जगत में वेस्टलैण्ड (टी.एस. इलिएट) आस्कर वाइल्ड, नीत्शे, दोस्तोयव्स्की, शॉ, टॉलस्टॉय को लोग पढ़ना चाहते थे। शेक्सपीयर का पुनर्मूल्यांकन हो रहा था। विश्वयुद्ध के बाद देश में सारी मान्यताएँ हर क्षेत्र में टूट रही थीं। पन्त प्रगतिवाद की ओर आ गये थे। निराश युवा वर्ग भटकन की स्थिति में था। भारतीय और पाश्चात्य के समन्वय में वह व्याकुल था। वह बदलता हुआ समय तब और मूर्त और जटिल होता है, जब द्वितीय महायुद्ध (1939-1945) समाप्त हुआ। उसने जैसे जीवन की निस्सारता, अर्थहीनता और घनघोर निराशा को, मृत्यु, भय और मूल्य ह्रास को, साकार कर दिया। मनुष्य का मनुष्य से सम्पर्क, राग ख़त्म हो गया। ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म, चिन्तन की निरर्थकता सिद्ध हो गयी और अनुभव किया गया कि मनुष्य मनुष्य के लिए इतना शैतान, क्रूर, जंगली, पागल हो सकता है? विनाशात्मक, ध्वंसात्मक कार्य और भावहीन, सम्बन्धहीन दृश्य सब एक हो गये—मोहभंग की स्थिति जन्मी। सबका आत्मविश्वास हिल गया। रचनाकारों को लगा कि यह यथार्थ कितना भयानक है। जिस यथार्थ को साहित्य में व्यक्त किया जा रहा था, वह कितना बनावटी था। यह यथार्थ तो सब कुछ तोड़-फोड़ देनेवाला है—कथा, नायक, आरम्भ-मध्य-अन्त, निष्कर्ष, सन्देश, मूल्य, आदर्श, मर्यादा, परम्परा और आत्मसम्मान। मनोरंजन, कला, तर्क, प्रेम, महान् व्यक्तित्व, नारी, आदर्श सब निरर्थक लगने लगे। इस निरर्थकता को व्यापक अर्थों से भुवनेश्वर ने पकड़ा। विपिन कुमार अग्रवाल ने सबसे पहले यह मूल्यांकन किया। आवाज़ उठाई कि "भुवनेश्वर हिन्दी के पहले लेखक हैं, जिन्होंने इसे बड़ी गहराई ये महसूस किया और रचनाओं में व्यक्त किया।"

छायावादी भावुकता और रोमानी कल्पना के युग में भुवनेश्वर जैसा प्रखर, ठोस व्यक्तित्व और जीवन के मूलभूत प्रश्नों से सीधे साक्षात्कार करता हुआ उनका साहित्य हमें आश्चर्यचकित करता है और पाठ्य नाटकों के युग में रंगमंच की परिपक्व कल्पना से रचे उनके नाटक सहसा चौंकाते हैं। उस समय आधुनिकता, यथार्थ और नये की खोज की आतुरता और परिपक्वता इतनी किसी में नहीं मिलती। अपने समय में वे अकेले ऐसे रचनाकार दिखायी देते हैं, जिसने बदलते जीवन-मूल्यों को इतनी तेज़ी से अनुभव किया। उनकी मान्यता है कि मानव अपनी बुद्धिस्थूलता से वस्तुओं का वास्तविक रूप छिपाये हुए है। मानव जीवन की यही समस्या है। वस्तुतः 'वास्तविक रूप' की तलाश और छटपटाहट ही उनकी कृतियों के मूल में निहित है। काफ़ी पहले ही भुवनेश्वर ने यह सिद्ध कर दिया था कि नाटक हमारे बदलते जीवन-मूल्यों, आधुनिक संत्रास, यंत्रणा को अभिव्यक्त करने और भाषा को निरन्तर समकालीन और नया बनाते रहने का कितना सशक्त माध्यम है। हिन्दी का अधिकतर प्रसादोत्तर नाटक नाटकीय और साहित्यिक दृष्टि से बहुत सशक्त नहीं है।

सबके सामने रंगमंच, नाटक की जीवन्त भाषा, और नाट्यशिल्प का संकट है और आज भी नज़र आता है। ज़्यादातर ने वक्तव्यप्रधान नाटकों के अलावा इस विधा के नये आयामों की खोज नहीं की, पर भुवनेश्वर के एकांकियों में प्राण तत्त्व के साथ युग के भावी स्वर और बार-बार ध्वनित होती मौलिकता उपलब्ध होती है।

विश्वमहायुद्ध के बाद की स्थितियों ने कथ्य और शिल्प को प्रभावित किया। हिन्दी में पश्चिमी अस्तित्ववाद के प्रभाव से आधुनिकता बोध की जो चर्चा सातवें दशक में हुई, भुवनेश्वर उसे चौथे दशक में ही देख सके। अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन और एब्सर्ड नाट्यधारा में भुवनेश्वर अग्रणी हैं। इस धारा को 1938 में ही भुवनेश्वर 'ताँबे की कीड़े' और 'ऊसर' जैसे एकांकियों में ले आये, जो विश्व के नाट्येतिहास में प्रथम प्रयोग था—उन्होंने उस अकेलेपन, अजनबीपन और संवेदनहीनता को, भाषा की अर्थहीनता को, नाटक के अन्तर्वर्ती यथार्थ को पकड़ा—बेतुके संवादों में। हिन्दी में आगे भी असंगत नाटक लिखे गये—विपिन कुमार अग्रवाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सत्यव्रत सिन्हा, रमेश बक्षी द्वारा—लेकिन विश्व नाटकों के समक्ष भुवनेश्वर की 'ताँबे के कीड़े' अद्वितीय रचना है और आयनेस्को, बेकेट के नाटकों के पहले की रचना। उसमें भुवनेश्वर की पहल और उनकी असाधारण कल्पना शक्ति एवं हरकत की भाषा इसका प्रमाण है। जो भाषा बाहरी प्रभावों से अतिरिक्त प्रयोगों से दबी हुई थी, लगातार गतिशील है। चिड़िया की आवाज़ की तरह शब्द के नये अर्थ प्रक्षेपित होने लगते हैं।

भुवनेश्वर ने इतने परिवर्तनशील समय में हर प्रकार से अपनी छटपटाहट को अभिव्यक्ति दी। इस प्रकार सही मानों में छायावाद युग में आने के बाद भी भुवनेश्वर आज के रचनाकार हैं। छायावाद का व्यक्तिवाद पूरे लेखन-जगत में छाया हुआ था। भुवनेश्वर का व्यक्तित्व अपनी अग्रगामी चेतना और स्पष्टवादी 'टोन' के कारण, नये प्रखर विचारों के कारण उस समय के साहित्य के आगे ओझल रहा। इसके पीछे एक ओर उनके विरुद्ध अनेक प्रवाद थे, दूसरी ओर यह कि उनकी अधिकांश रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई, अधिकांश दबी पड़ी रहीं। कहानी, कविता-जगत् में उस समय उनकी कोई चर्चा, कोई मूल्यांकन ही नहीं हुआ। मुख्य विधा एकांकी होने के कारण भी उन्हें हिन्दी में रंगमंच और समीक्षा की समग्र दृष्टि के अभाव को झेलना पड़ा। 'ताँबे के कीड़े', 'ऊसर' आदि पर गम्भीर विचार का अभाव रहा। एब्सर्ड तर्ज के इस एकांकी को कोई समझ भी नहीं पाया है। आज भी पश्चिमी रचना विधान की इस सूक्ष्म संवेदना के लोग आदी नहीं हैं। भुवनेश्वर पर पश्चिमी अनुकरण के आरोप भी लगते रहे। आलोचकों ने उनके एकांकियों और व्यक्तित्व को गम्भीरता से नहीं लिया, जबकि यह उल्लेखनीय तथ्य है कि प्रसाद के महत्त्वपूर्ण नाटक *स्कन्दगुप्त*, *चन्द्रगुप्त* और *ध्रुवस्वामिनी* जब सामने आये, तभी भुवनेश्वर के आरम्भिक नाटक भी प्रकाशित हुए। दोनों दो विरोधी छोर, दृष्टियों और भाषाओं की नाट्य-रचनाएँ

थीं। प्रेम और नारी को लेकर दोनों नाट्यकारों के रूप बिलकुल अलग हैं। प्रसाद प्रेम की मधुरता, पवित्रता और सम्बन्धों को, मर्यादा को बचाते हैं, भुवनेश्वर सब तोड़ डालते हैं। वे स्त्री की स्वायत्तता को दो टूक शब्दों से व्याख्यायित कर डालते हैं। आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार, "प्रसाद के अन्तिम नाटक *ध्रुवस्वामिनी* में धर्मपत्नी के स्वरूप की शास्त्रसम्मत व्याख्या हुई है, पर भुवनेश्वर का पात्र जब कहता है, 'मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ' तो 'धर्मपत्नी' की परम्परागत अर्थ-छायाओं को ही ठेस लगती है। भुवनेश्वर के नाटक आकार में संक्षिप्त होते हुए भी अपने विधान में पूरे नाटक हैं।" (*हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास*, पृ. 257)। जिस अराजकता में, जिस अस्वीकार में वे जीते हैं—वे कहीं अपने आपको ही तो नहीं जलाते जाते हैं? जितनी मर्यादाएँ वे नष्ट-भ्रष्ट करते हैं, उतने ही कला, भाषा में संश्लिष्ट, अनुशासित और इतने व्यंजक। ये भी एक विरोधी स्थिति है।

लक्ष्मीकान्त वर्मा उनके व्यक्तित्व और साहित्य की इस विशेषता को इस प्रकार रेखांकित करते हैं—

> "शिवत्व और लोकत्व के ये दोनों रूप भुवनेश्वर में समानान्तर मिलेंगे। कला में, नाटक में, कविताओं में, चित्रों और पेंटिंग्स में भुवनेश्वर का लोक-तत्त्व गरिमामय है, पर उसमें शिवत्व उस श्मशान-सेवी की आँच में सीझता है, जो स्वयं अपने आपको नकार कर सृजन या निर्माण करता है।"

(*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 12)

1936 में लखनऊ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचन्द ने केवल दो लेखकों का नाम लेते हुए कहा, "यदि जैनेन्द्र में दुरूहता और भुवनेश्वर में कटुता कम हो, तो इनका भविष्य उज्ज्वल है।"

*कारवाँ* के प्रकाशन के साथ दोनों बातें एक साथ शुरू हुई—उसके आधार पर भुवनेश्वर की मौलिक प्रतिभा और सशक्त प्रयोगधर्मिता, संवेदनशीलता का भी मूल्यांकन किया गया और दूसरे आलोचकों ने उसे उनकी मौलिक नाट्य कृति ही नहीं माना। उनके एकांकियों को इब्सन और बर्नार्ड शॉ के एकांकियों का 'भावानुवाद' कहा। लेकिन सारे वाद-विवादों के बाद भी *कारवाँ* एक नये प्रयोग की तरह प्रतिष्ठित हुआ। आलोचक डॉ. बच्चन सिंह ने *हिन्दी नाटक* पुस्तक में उनके प्रयोग की सराहना की है। भुवनेश्वर बहुत कम् आयु में ही अपनी साहित्यिक प्रतिभा के कारण साहित्य-जगत में जाने जाने लगे। लगातार रचना-संघर्ष के साथ उनकी रचनात्मक सम्भावनाएँ पहचानी जाने लगीं। शमशेर जी ने उन्हें हिन्दी का पहला 'वाल्डियन विट' कहा। प्रेमचन्द भी सारी प्रशंसा के साथ एक सवाल ज़रूर उठाते हैं कि "आस्कर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वे उसके दुर्गुणों को नहीं छोड़ सकते।"

---

# 2

# भुवनेश्वर : जीवन और व्यक्तित्व

*"मैं एक ऐसे ईश्वर को मानता हूँ, जो समस्त मानव धर्म और जातियों का विधायक और पोषक है।"*

(शैतान)

भुवनेश्वर का बहुआयामी व्यक्तित्व और उनका गरिमापूर्ण, सशक्त कृतित्व हमें उनके जीवन, उनकी पृष्ठभूमि को जानने-समझने के लिए प्रेरित करता है और उत्सुक भी करता है। भुवनेश्वर अर्थात् भुवनेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव। शाहजहाँपुर में जन्मे भुवनेश्वर प्रसाद के पूर्वज मलीहाबाद के कुडरहा नामक छोटे गाँव के थे। 1857 के गदर में वे माइग्रेट होकर शाहजहाँपुर आये पूर्वज बाबू शीतला प्रसाद और बाबू गंगाबख़्श ज़मींदारी से क्रमशः सम्पन्न होते गये थे। शीतला प्रसाद के तीन पुत्र हुए—महाराज नारायण, ठकुरी प्रसाद और हरगोविन्द प्रसाद। महाराज नारायण के तीन पुत्र हुए—श्री ओंकारबख्श, सरयू प्रसाद और महामाया प्रसाद। ओंकारबख्श रेलवे में कार्यालय अधीक्षक के पद पर थे, सरयू प्रसाद पोस्टमास्टर थे और महामाया प्रसाद वकील। ओंकारबख़्श की पहली पत्नी से भुवनेश्वर प्रसाद का जन्म हुआ। भुवनेश्वर साल-डेढ़ साल के ही थे कि उनकी माता का निधन हो गया। कुछ समय बाद ओंकारबख़्श ने चमेली देवी से विवाह कर लिया, जिनसे उनके सात सन्तानें हुईं—दो बेटे—ब्रजभूषण लाल, दयानन्दन लाल सिन्धु और पाँच बेटियाँ—गुप्तेश्वरी, शक्ति, मालती, कामिनी, गोपी। परिवर्तन का क्रम आरम्भ हुआ। ओंकारबख़्श ने नौकरी छोड़कर चूने का भट्ठा लगाया फिर ईंट का भट्ठा। उसमें घाटा होता गया और वह बिल्डिंग कांट्रेक्टर हो गये। उसमें भी घाटा होता गया, जिससे उनकी पारिवारिक स्थिति दिन पर दिन कमज़ोर और आर्थिक दृष्टि से संकट-ग्रस्त होती गयी। दिन-रात शराब! शराब का ठेका लिया, वह भी भारी पड़ा। धीरे-धीरे उनकी शारीरिक-मानसिक शक्ति का, आत्मविश्वास का इतना ह्रास हुआ कि वे बीमार हो गये और 1946 को उनका देहान्त हो गया। इस प्रकार भुवनेश्वर के बचपन के कोमल क्षण इन आघातों को झेलते रहे। उनका लालन-पालन विषम परिस्थितियों में हुआ।

भुवनेश्वर का घर का नाम मदन था। उनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में कई प्रकार की धारणाएँ हैं, जिनसे भ्रम पैदा हुए हैं। विपिन कुमार अग्रवाल *कारवाँ* में उनका जन्म 1910 में लिखते हैं। इस तिथि का समर्थन भुवनेश्वर के मित्र कृष्णनारायण कक्कड़, कृष्णमोहन सक्सेना, शुकदेव सिंह भी करते हैं। साहित्य अकादेमी से प्रकाशित *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर* में भी जन्म वर्ष 1910 बताया गया है। वस्तुतः भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं भुवनेश्वर के उस पत्र के कारण, जो उन्होंने साहित्यकार उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखा था। उन्होंने लिखा है—जन्म 6 जून 1914 ई.। इस पत्र में पहली बार भुवनेश्वर की जन्मतिथि का उल्लेख था, लेकिन पत्र में दी गयी अन्य जानकारियाँ उपयुक्त न होने के कारण और कोई पुष्ट प्रमाण न मिलने के कारण उसे सन्देहग्रस्त माना गया। शाहजहाँपुर के गवर्नमेण्ट स्कूल में भुवनेश्वर पढ़े थे। वहाँ के स्कॉलर्स रजिस्टर के अनुसार राजकुमार शर्मा, संस्थापक-सचिव, भुवनेश्वर प्रसाद शोध-संस्थान, शाहजहाँपुर, भुवनेश्वर की जन्मतिथि 20 जून 1912 निश्चित करते हैं। यह तिथि प्रमाणों द्वारा पुष्ट और निर्विवाद है।

भुवनेश्वर की बाल्यावस्था अभावों और अकेलेपन में बीती। सौतेली माँ का व्यवहार उनके प्रति अच्छा न था। पिता आरम्भ में उनका, उनकी शिक्षा का बहुत ध्यान रखते थे, पर अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों, दबावों और आर्थिक तंगी के कारण वे धीरे-धीरे भुवनेश्वर से विमुख होते गये। इस सर्वग्राही अभाव के वे साक्षात् भोक्ता रहे। वे उपेक्षित होते गये और बचपन में ही एकाकीपन से घिरते गये। भुवनेश्वर अपने माता-पिता से कटते गये, पर अपने चाचा महामाया प्रसाद और अपनी चाची से उन्हें अधिक स्नेह प्राप्त होता रहा। प्रमाण बताते हैं कि भुवनेश्वर अपने माता-पिता से 'नेगलेक्टेड' रहे और चाचा-चाची ने उनके इस अभाव की अपने प्यार-ममता से पूर्ति की। एक ही घर में रहने के कारण भुवनेश्वर की सभी ज़रूरतें चाचा महामाया प्रसाद पूरी करते थे, किन्तु 1925 में अचानक प्लेग के कारण महामाया प्रसाद की मृत्यु हो गयी। 12 वर्ष से भी कम आयु के भुवनेश्वर के हृदय पर इस सदमे का इतना गहरा आघात लगा कि वे ख़ामोश और आत्मकेन्द्रित होते चले गये। उनके घनिष्ठ मित्रों का कहना है कि इस आघात को उन्होंने इतनी गहराई से महसूस किया कि उनका हँसी-मज़ाक़, उनकी चुहल से भरी आकर्षक बातें जैसे कमरे के कोने में, उदासी में बन्द हो गयीं।

कुछ समय बाद भुवनेश्वर की चाची भी अपने बच्चों—सच्चिदानन्द, करुणा और मनोरमा के साथ इलाहाबाद चली गयीं। भुवनेश्वर परिवार में बिलकुल अकेले पड़ गये। उन्हें समझनेवाला, उनका पक्ष लेनेवाला भी कोई नहीं रह गया। इस तरह उनकी किशोरावस्था ही बिखर गयी, जो कि सबसे नाज़ुक समय होता है। कहते हैं, भुवनेश्वर कभी किसी से अपने परिवार के बारे में बात नहीं करते थे। क्रमशः

जिन लोगों से उनके सम्बन्ध बने, उनमें द्वारिकानाथ कपूर, जयनारायण कपूर, ओंकारनाथ सेठ, श्याम सिंह सेठ, गिरिराजकिशोर मिश्र, काशीनाथ कपूर उर्फ़ गप्पी बाबू के नाम लिये जाते हैं। ये सभी भुवनेश्वर के अकेलेपन और पीड़ा के साथी बनते गये। कहते हैं, एक दिन घर में किसी ने उन्हें एक टूटी हुई अंगीठी दिखायी, जिसे उनकी माँ इस्तेमाल करती थीं। भुवनेश्वर अन्दर तक हिल गये—उन्हें उनकी माँ की याद ने इस तरह आ घेरा कि उन्होंने एक कविता लिख डाली।

भुवनेश्वर तीव्र बुद्धि के, बेहद प्रखर विद्यार्थी थे। छठी-सातवीं कक्षा में उन्हें ट्यूशन पढ़ाते थे श्री रामशंकर रस्तोगी। उनका कहना है कि "वह बड़े-बड़े बाल रखनेवाला तथा ख़ामोश रहनेवाला लड़का पढ़ने में बहुत तेज़ था। फ़िलॉसफ़र जैसा, दिन भर कुछ-न-कुछ लिखता-पढ़ता रहता था। वाक़ई जीनियस था। जल्दी-जल्दी किसी से 'मिक्सप' नहीं होता था। मारपीट कभी नहीं करता था, लेकिन चोरी-छिपे सिगरेट पीता था।" शाहजहाँपुर के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में भुवनेश्वर ने दो साल शिक्षा प्राप्त की। 1928-29 में उन्होंने नवीं कक्षा पास की और 1929-30 में वह दसवीं कक्षा में अनुत्तीर्ण रहे। बरेली कॉलेज, बरेली से उन्होंने ग्यारहवीं कक्षा पास की, लेकिन वह इण्टर पूरा न कर पाये और पढ़ाई छूट गयी।

पढ़ाई के अतिरिक्त भुवनेश्वर पढ़ते बहुत थे। अंग्रेज़ी बहुत अच्छी बोलते थे और अंग्रेज़ी का ज्ञान भी उन्हें अद्‌भुत था। बराबर अंग्रेज़ी का साहित्य पढ़ते थे। भुवनेश्वर का साहित्यिक ज्ञान प्रसिद्ध हो गया था। अपने ज्ञान और प्रतिभा के कारण वे अंग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू के प्रोफ़ेसरों-विद्वानों के साथ बैठते थे। विद्वान प्रोफ़ेसर भी उनके साहित्यिक ज्ञान से अचम्भित रह जाते थे। भुवनेश्वर बहुत अच्छे वक्ता भी थे—विशेषकर अंग्रेज़ी में। उनकी वक्तृता बड़ों-बड़ों को परास्त कर देनेवाली थी। 1929-30 में जब भुवनेश्वर गवर्नमेण्ट स्कूल में जूनियर छात्र रहे, तब छात्रों की एक लिटरेरी सोसाइटी बनायी गयी थी जिसमें 'डिबेट' आदि कार्यक्रम होते थे। भुवनेश्वर तब दसवीं कक्षा में थे और प्रायः उसमें बोला करते थे। वे बहुत अच्छा बोलते थे। बोलते-बोलते पंजों पर खड़े हो जाने की उनकी अदा' का भी ज़िक्र लोग करते हैं। स्कूल में उनका बहुत अच्छा प्रभाव बना हुआ था। उनके उन्मुक्त स्वभाव और हाज़िर जवाबी का भी लोग बयान करते हैं। उनके सभी मित्रों का कहना है कि उन्हें इब्सन, शॉ, आस्कर वाइल्ड, फ्रायड, डी. एच. लारेंस की बहुत-सी रचनाएँ कण्ठस्थ थीं। उन्हें अपने स्कूल के अंग्रेज़ी प्रवक्ता श्यामाचरण और रूफस चरण का भी बहुत प्यार मिला। बरेली कॉलेज, बरेली में वे अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के गम्भीर मर्मज्ञ बन गये। यह उनकी जिज्ञासा और जिजीविषा थी। आगे चलकर उनके सभी कवि मित्रों ने—रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', शमशेर बहादुर सिंह ने इस प्रशंसा को खुलकर कहा है कि वे सब भुवनेश्वर के अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन, मनन, ज्ञान और निर्दोष उच्चारण और वक्तृता से बहुत प्रभावित थे।

भुवनेश्वर कई प्रकार से एक सक्रिय व्यक्ति थे। उनकी अच्छी-ख़ासी मित्र मण्डली थी। बताया जाता है कि 1931 में यूथ लीग का एक बड़ा जुलूस निकला था, जिसमें भुवनेश्वर झण्डा लेकर आगे-आगे चले। नारों के साथ जुलूस बढ़ता था। बीच में जुलूस रोककर भुवनेश्वर बोलते जाते थे। भुवनेश्वर इस लीग में मेम्वर थे और पूरे आन्दोलन में बहुत सक्रिय थे। किसी भी विषय पर बहस, तर्कशीलता ऐसी थी कि चारों ओर के लोग पराजित हो जाएँ। हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार, सम्पादक, कवि रघुवीर सहाय ने कहा है—

> "लखनऊ के काफ़ी हाउस में एक पस्ताक़द, साँवला-सा दुबला-पतला आदमी छोटी-छोटी पैनी आँखें और साफ़-सुथरा लहज़ा—कई दोस्तों से घिरा हुआ बहस का केन्द्र बना हुआ बैठा है। वे उसकी तर्कों से थोड़ी देर में परास्त हो जाते हैं, कभी-कभी तंग भी। मगर उसके बहस के तरीक़े में इतनी कशिश है कि किसी को उठकर जाने का मन नहीं होता।"
>
> —हंस, मार्च 1989, पृ. 15

सही मानों में भुवनेश्वर का व्यक्तित्व और स्वभाव निराला की तरह विरोधाभासों और वैविध्य से भरा था। वह वैचारिक धरातल पर और लेखन में जितने तर्कशील, वक्तृतापूर्ण, साहसी और कुशल थे, व्यावहारिक जगत में स्वभाव से बहुत संकोची भी थे। भाषा के स्तर पर वह उर्दू भी बहुत धड़ल्ले से बोलते थे। शमशेर बहादुर सिंह उसने अपनी मित्रता का एक कारण यह भी मानते हैं कि स्वयं उर्दू का जानकार होने के कारण उन्हें ग़ालिब और दूसरे उर्दू कवियों की कविताओं पर बातचीत करनेवाला कोई नहीं मिलता। भुवनेश्वर उर्दू कविता के रसिया थे और श्रेष्ठ उर्दू रचनाओं और कवियों पर प्राण छिड़कते थे—उन पर गम्भीर बातचीत करते थे।

साहित्यिक सक्रियता के साथ उनकी राजनीतिक सक्रियता के कारण हर काम में आगे बढ़ते थे। धूम मचाये रहने की उनकी शख़्सियत भी थी और उनका शौक़ भी। प्रभावशाली व्यक्तित्व था भुवनेश्वर का। खद्दर की अचकन, नाटा व्यक्तित्व, पर उसके अलग रंग-रूप, उनका बोलने का अन्दाज़, गम्भीर चर्चाएँ, उनकी भाषा-शैली और उनकी विलक्षणता लोगों को प्रभावित कर लेती थी, इसीलिए शाहजहाँपुर के बाद बरेली, फिर लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद जहाँ भी वे गये, अपने व्यक्तित्व, अपने ज्ञान, बेलौस बातचीत से अजीब हलचल पैदा करते थे—लोगों के दिलोदिमाग़ में, वातावरण में इस नवयुवक की वेशभूषा, जीवन-शैली, गम्भीरता, प्रखरता नया रंग लिये थी जो सामान्यतः अन्य नवयुवकों में अकल्पनीय, अलभ्य है। छोटा क़द, पाँच फ़ीट का दुबला-पतला शरीर लेकिन चमकती आँखें, पतली-सी अँगुलियाँ, कभी बढ़ी दाढ़ी, कभी पायजामा-खद्दर का कुर्ता, कभी शेरवानी, कभी बहुत साफ़-सुथरे। उनका व्यक्तित्व बहुत व्यवस्थित न था, पर जादुई आन-बान वाली बात ज़रूर थी। इतने मस्तमौला और कुशाग्र बुद्धि कि छात्रों, अध्यापकों और

साहित्यकारों में वे बहुत लोकप्रिय होते गये। उनके इस लोकप्रिय और छा जानेवाले प्रभावी व्यक्तित्व एवं उनकी भाषण-कला के सन्दर्भ में श्री शेखर उप्रेती का कहना है—

> "आगरा कॉलेज के वाद-विवाद में हम दोनों बरेली कॉलेज की ओर से भाग लेने के लिए आगरे गये। हम लोग सेंट जॉन्स कॉलेज में ठहरे। मैं लिखित भाषण को बार-बार रटता रहा, जबकि भुवनेश्वर सिगरेट के कश लगाते रहे, और खुरचन खाते रहे। निश्चित दिन वाद-विवाद में मेरे बोलने पर श्रोताओं ने ख़ूब शोर मचाया, क्योंकि उसमें भावावेश के अतिरिक्त तर्कविधि शून्य थी, पर भुवनेश्वर जब बोला, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अखिल भारतीय स्तर पर कोई परिपक्व वक्ता बोल रहा है। मुझे कोई परितोष नहीं मिला, पर भुवनेश्वर प्रथम वक्ता के रूप में विभूषित हुए।"

भुवनेश्वर के वक्ता के रूप में लेखन-शैली में उनकी हाज़िर-जबावी का भी बड़ा योगदान है और उनके मस्त मिज़ाज का भी। वे गाते भी बहुत अच्छा थे। आरम्भ में उनकी हिन्दी कविताएँ भी गेयात्मक थीं। अक्सर वे लोगों को अपनी कविताएँ तरन्नुम में सुनाते थे। उनका कण्ठ बहुत अच्छा था और लोगों को प्रभावित करता था। स्मरण शक्ति इतनी तेज़ थी कि ग़ालिब का आधा दीवान ज़बानी याद था उन्हें।

भुवनेश्वर स्वभाव में बहुत हँसमुख और मिलनसार थे। बहुत 'कल्चर्ड' आदमी थे—वे अदब क़ायदे बख़ूबी जानते थे और हमेशा अपने अधिकारों के प्रजि सजग थे। उनके फक्कड़ व्यक्तित्व को पहचानना आसान नहीं था। वे स्वभाव से संकोची भी थे, स्वाभिमानी भी, स्पष्टवादी भी। डॉ. सुरेश अवस्थी कहते हैं, "भुवनेश्वर का व्यक्तित्व इतना तीखा था और बात करने में इतना 'एक्सपर्ट' था, जैसे तलवार की धार होती है, जिससे सामनेवाला मोम की तरह पिघलता मालूम होता था। एक व्यक्ति और रचनाकार के रूप में वे अन्तर्मुखी तो थे, पर उन्हें समझना आसान नहीं था। वे मित्रों के बीच बहुत बेबाक, मस्त आदमी थे। वे ग़ज़लें, शायरी इतनी तरन्नुम से, इस दर्द के साथ पढ़ते कि कहते हैं कि सामान्य चायवाले से लेकर आसपास से गुज़रनेवाले लोग सुनकर राह में रुक जाते थे। लेखक अमृत राय, शमशेर बहादुर सिंह सब उनकी प्रतिभा के साथ-साथ उनके स्वभाव, उनकी 'आदमीयत' के बहुत प्रशंसक रहे। भुवनेश्वर के लेखन की तरह उनके अक्षर भी सुन्दर होते थे—ख़ासकर अंग्रेज़ी में।

"भुवनेश्वर अच्छे चित्रकार भी थे। उनकी ड्राइंग ज्योमिट्रिकल थी। उन्होंने कोई प्रशिक्षण नहीं पाया था। शमशेर बहादुर सिंह और कृष्ण नारायण कक्कड़ के पास उनकी पेंटिंग्स हैं। उनके अनुसार ये प्रतीकात्मक चित्र हैं, जिन्हें वे 'डूडल्स' कहते थे। उनके चित्र 'एक्सपेरिमेण्टल', सुर्रियलिस्ट बताये जाते हैं। उनमें चित्रकार

जैसे अचेतन मन को व्यक्त कर रहा है। फ्रांस, जर्मनी में जिस प्रकार की 'सुर्रियलिज़्म', 'क्यूबिज़्म' दोनों 'एक्सपेरिमेंटल ड्राईंग्ज' थीं, जिनका प्रभाव भारत में कम रहा, इंग्लिश पेपर में वे छपती थीं—वे भुवनेश्वर में हैं जिनको खोजना, बचाना अनिवार्य है। वह अपने चित्रों पर आरम्भ में भी नाम बदलते थे—यम. भुवन, बाद में वह उन पर Hada (हाडा) लिखने लगे थे। यद्यपि उनकी चित्रकला का विकास नहीं हो पाया, पर उससे उनकी बहुमुखी कला-प्रतिभा उजागर होती है। 'एब्सट्रैक्ट ड्राइंग थी। रेल की पट्टी के बीच बैठकर इंजन बनाया था—बीभत्स। एक और चित्र में सजीव युद्ध-स्थल था। शीर्षक था 'कर्ण दिग्विजय'। एक अन्य चित्र में एक आदमी छड़ी लिये जा रहा है, उसमें थोड़ी से रेखाओं में ही उस आदमी का मूड उसका छड़ी घुमाना प्रभाव डालता है।" ('नटरंग' 40, पृ. 22)।

1932-33 से भुवनेश्वर के जीवन में एक परिवर्तन आया है। उनके सभी मित्र अधिकांशतः शाहजहाँपुर में अपनी पढ़ाई पूरी कर लखनऊ, उन्नाव, कानपुर, वाराणसी, इलाहाबाद उच्च शिक्षा के लिए चले गये। भुवनेश्वर शाहजहाँपुर में अकेले पड़ गये। अपने परिवार में भी वे अकेले थे, बेरोज़गारी और अपनी आदतों के कारण। परिवार में अपनी महत्ता न पाने के कारण उन्होंने घर छोड़ दिया और यहाँ से उनका यायावरी जीवन शुरू हुआ। उनका परिचय-क्षेत्र बढ़ता गया और एक स्थान से दूसरे स्थान जाने लगे। 1932-33 में वह एक चर्चित नाटककार, साहित्यकारों में प्रतिष्ठित माने जाने लगे थे। कभी वे हिन्दू हॉस्टल में थे, कभी लखनऊ, कभी कानपुर; सुबह कहीं, शाम कहीं, रात कहीं। इस अस्त-व्यस्त जीवन-क्रम को कोई नहीं जानता था। पर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के अनुसार, "हाथ में कविता की कापी काफ़ी मोटी, जिसमें बीच-बीच में एकांकी भी गुँथे थे, उनकी और शॉ की सूक्तियों से मण्डित, वह बराबर लिए रहते थे कविताएँ छायावादी, पर बीच-बीच में चमक उठनेवाले जीवन के, भौतिक यथार्थों के टुकड़े।" एक 'आवारापन' भी उनमें था। 1933 में वे प्रेमचन्द के पास बनारस आये थे—अच्छे कपड़े, सुन्दर बातें! प्रेमचन्द उनकी प्रतिभा को मानते थे। 'हंस' के अक्टूबर अंक में उन्होंने 'श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना' और 'प्रतिभा का विवाह' दो एकांकी छापे। इस अंक से भुवनेश्वर की प्रतिष्ठा राष्ट्रीय स्तर के एकांकीकार के रूप में हुई। श्रीपत राय के अनुसार भुवनेश्वर उनसे ख़ूब घुल-मिल गये और घर के सदस्य की तरह रहे। 1933-34 में वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मालवीय छात्रावास में शमशेर बहादुर सिंह के साथ थे। वहाँ उनकी भेंट नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल आदि से हुई।

भुवनेश्वर के एकांकी और कहानियों का रचना-दौर और प्रकाशन का दौर चलता रहा। फ़रवरी 1934 में उनका बहुचर्चित 'शैतान' और मार्च 1934 में 'एक साम्यहीन : साम्यवादी' ये दो एकांकी और अक्टूबर 1934 में 'मौसी' कहानी 'हंस' में प्रकाशित हुई। 1935 मार्च अंक में 'रोमांस-रोमांच', 'लॉटरी' एकांकी और कहानी

'हाय रे मानव हृदय' छपी। कुछ लोग उन्हें इलाहाबाद के अंग्रेज़ी रोज़नामा 'लीडर' से भी जुड़ा बताते हैं। कुछ समय तक वह लीडर के सम्पादकीय विभाग में भी काम कर रहे थे। उन्होंने 'नैनीताल गज़ेटियर' का भी सम्पादन किया, गिरिजाकुमार माथुर के लिए भी गीतों का संग्रह किया। इस प्रकार वे सम्पादक रूप में भी सामने आते हैं। 1935 में भुवनेश्वर का *कारवाँ* संग्रह लीडर प्रेस, प्रयाग से छपा, जिसने भुवनेश्वर की लेखन-प्रतिभा की चर्चा का विषय बनाया। प्रेमचन्द ने *कारवाँ* की समीक्षा जून 1935 के 'हंस' में की और *कारवाँ* को हिन्दी साहित्य का क्रान्तिकारी मोड़ कहा।

भुवनेश्वर का मन-मस्तिष्क बहुत उदार और मानवीय था। जाति, सम्प्रदाय, धर्म, वर्ग, सामाजिक वर्जनाएँ—ये सब वे नहीं मानते थे। पूर्णतः मुक्त हृदय। वे कहीं भी जा सकते थे, रह सकते थे, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, कहीं भी अपनी जगह बना लेते थे। भगवान का नाम वे कहीं नहीं लेते हैं। नास्तिक की व्याख्या नये ढंग से करते हैं और इस सृष्टि की व्याख्या करते समय ईश्वरीय महिमा की निरर्थकता को महसूस करते हैं। जून 1936 में भुवनेश्वर ने एस.डी.हॉस्टल, कानपुर में रहते समय कुछ अंग्रेज़ी कविताएँ लिखी और इन्हें *वर्ड्स ऑफ़ पैसेज़* में संकलित करके ज्ञानप्रकाश जौहरी को समर्पित किया। ये अप्रकाशित कविताएँ भुवनेश्वर की हस्तलिपि में हैं और डा. राजकुमार शर्मा के पास सुरक्षित हैं। आकाशवाणी लखनऊ में वे थे, पर नौकरी में कहीं रुके नहीं। न बन्धकर रहे, न बन्धकर, ठहरकर लिखा। उनके घनिष्ठ मित्र उनकी कई रचनाएँ आकाशवाणी के लिए उनसे लिखवाने के प्रयास में और उन्हें प्रसारित करने में लगे रहे, पर भुवनेश्वर कहीं ठहरे नहीं। आर्थिक संकट हमेशा उनके साथ रहा। लिखने-पढ़ने से ही जो कुछ मिल जाता था, वही उनकी जीवन-चर्या का आधार था। बार-बार उनके साथ कोई-न-कोई 'स्कैण्डल' जुड़ जाते थे। चारों ओर के आरोप उन्हें आहत करते थे। लगातार वे आर्थिक और साहित्य जगत के रवैये से, अपनी आन्तरिक और बाह्य मजबूरियों से, अपनी संवेदना और अहम् से लड़ रहे थे।

इस बीच अपनी रचनाओं की सशक्त पहचान के साथ भुवनेश्वर ने अचानक कविता लिखना छोड़ दिया। वे कहानी, नाटक, स्केच लिखते रहे, साहित्यिक टिप्पणियाँ लिखीं। 1936-38 के बीच उन्होंने बहुत लिखा। 'माँ-बेटी' कहानी 'हंस' में छपी। अप्रैल 38 में उनकी महत्त्वपूर्ण कहानी 'भेड़िये' भी 'हंस' में छपी। इस कहानी को डॉ. शुकदेव सिंह ने पहली आधुनिक कहानी कहा। मई 38 के 'हंस' के एकांकी विशेषांक में उनका 'स्ट्राइक' छपा। इसी अंक में प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपने लेख में *कारवाँ* को हिन्दी एकांकी का 'पथ-प्रदर्शक' कहा। जुलाई 38 के 'हंस' में 'ऊसर' और साप्ताहिक 'चकल्लस' (सं. अमृतलाल नागर, नरोत्तम जोशी) में उनकी कहानी 'मास्टरनी' और फिर 'भाभी अंक' में 'भाभी काम्प्लेक्स और कार्ल मार्क्स—एक साहित्यिक मुग़ालता' व्यंग्य लेख प्रकाशित हुए। ये सभी रचनाएँ

भुवनेश्वर के रचनाकार के विकास-सोपान हैं, उनकी बौद्धिक प्रखरता और भाषा-शिल्प की तराश की भी प्रमाण हैं। बाद में 'हंस' में 'जोश मलीहाबादी' पर एक लेख उनका आया और फिर आगे चलकर 1949 में एक स्केच प्रकाशित हुआ। डॉ. शुकदेव सिंह ने इसे 'सूर्यपूजा' नाम से *भुवनेश्वर की रचनाएँ* पुस्तक में सम्पादित किया है। यह कहानी उनके आत्मसंघर्ष की दारुण यातना और जीवनानुभवों की तल्ख़ी से भरी हुई है। भुवनेश्वर का इस दौर का लेखन उनके विविधतापूर्ण और नये प्रयोगों से भरे कौशल का प्रतीक है। ये सभी रचनाएँ साहित्य में हलचल मचानेवाली थीं।

इलाहाबाद में उस समय 'परिमल' हिन्दी साहित्यकारों का केन्द्रीय अंग था, जिसमें निराला, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि साहित्यकार थे। 'परिमल' की सक्रियता में भुवनेश्वर का कोई स्थान नहीं था, बल्कि उनके विरुद्ध एक वातावरण था। इलाहाबाद में उनका एक 'इंटलेक्चुअल' हौवा था। इसका प्रभाव यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओं और साहित्यिक गोष्ठियों से उन्हें पूरी तरह उपेक्षा और अस्वीकार मिला। ऊपर से घनघोर आर्थिक संकट था। ऐसे समय में भुवनेश्वर अपने मित्रों के ही भरोसे थे। निराशा, उपेक्षा, भीतर से टूटते हुए, गन्दे मैले कपड़ों में और क्रमशः अनेक प्रकार के आरोपों में घिरते हुए। इस संघर्ष के बीच नवम्बर 1941 में उनका 'रोशनी और आग' एकांकी 'विश्ववाणी' में छपा। 1942 में 'कठपुतलियाँ' छपा। 43-44 में उनकी कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई। 1945 में उनका एकांकी 'फ़ोटोग्राफ़र के सामने' छपा।

31 मार्च 1946 को उनके पिता की मृत्यु हुई। उस समय वे शाहजहाँपुर में ही थे, घर से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। नवम्बर 1946 में अमृत राय के सम्पादन में उनका महत्त्वपूर्ण एकांकी *ताँबे के कीड़े* प्रकाशित हुआ। यह बहुत चर्चित हुआ—यह हिन्दी साहित्य में एक घटना की तरह था, जो विश्व के सामने ऐतिहासिक चुनौती था। 1947-48 में भुवनेश्वर डॉ. सुरेश अवस्थी के यहाँ रहने के बाद उनसे लड़कर कृष्णनारायण कक्कड़ के पास लखनऊ चले गये। कक्कड़ जी के अनुसार वहाँ रहकर उन्होंने तीन नाटक लिखे—'सिकन्दर' 'आज़ादी की नींद', 'जेरूसलम को'। बाद में, ये प्रकाशित भी हुए।

1948-49 में 40 वर्ष की उम्र के आस-पास भुवनेश्वर ने विवाह करना चाहा था, पर वह सम्पन्न नहीं हो सका। डॉ. सुरेश अवस्थी के लखनऊ से दिल्ली चले जाने पर भुवनेश्वर फिर बिना ठौर-ठिकाने के नितान्त अकेले रह गये। इसीलिए 1949-50 में वे पुनः इलाहाबाद लौट आये। उपेन्द्रनाथ अश्क उस समय की उनकी ख़ामोशी का ज़िक्र करते हैं कि किस प्रकार उन्होंने सब कुछ गम्भीरता से सुना और चुपचाप वापस चले गये। 1950 में भुवनेश्वर एक बार फिर शाहजहाँपुर आये—एक

होटल में रहे। 1950 में उन्होंने तीन एकांकी लिखे—'अकबर', 'चंगेज़ ख़ाँ', 'सींकों की गाड़ी'। ये अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

शाहजहाँपुर के बाद उनका लखनऊ रुकना हुआ। आर्थिक थपेड़ों से वह बहुत दुबले हो गये थे। कहते हैं कि चारबाग़ स्टेशन पर ही बेंच पर रात गुज़ार देते थे। उनके भाई दयानन्दनलाल सिन्धु ने उन्हें चारबाग़ स्टेशन पर ठण्ड में सिकुड़ते-ठिठुरते देखा। माँगने पर भी उन्हें वह लिहाफ़ नहीं दिया गया—यह कहकर कि यह तो बहन के लिए है और तब बिना एक शब्द कहे भुवनेश्वर ही वहाँ से चल दिये। अब तक उनकी आदतें, उनकी जीवन-शैली, शराब पीने की लत ऐसी बढ़ चुकी थी कि पारिवारिक माहौल में वे रह नहीं पाते थे। 1953-54 में वे शमशेर बहादुर सिंह के यहाँ थे, रिश्तेदारों के आने पर वह प्रायः ग़ायब हो जाते थे। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने उन्हें अपने यहाँ बहुत स्नेह के साथ रखा। शराब की लत उनकी बेक़ाबू हो गयी थी। वे अपने डूबे रहते ख़ाकी हाफ़ पैण्ट, ख़ाकी क़मीज़, गन्दी और ऊलजलूल हरकतें करते हुए! तब भी वे अंग्रेज़ी पुस्तकें निकालकर अंग्रेज़ी कविताएँ ग़ज़ब की पढ़ते थे। निराला की तरह अपने जीवन के आख़िरी दौर में भुवनेश्वर केवल अंग्रेज़ी बोलते-लिखते थे। कुछ नाटक भी अंग्रेज़ी में लिखे हैं—'एलेक्ज़ेण्डर' और 'बिस्मार्क'। इन दोनों में भाषा अंग्रेज़ी है, पर राजनीतिक समस्याओं को भारतीय पात्रों और परिवेश द्वारा व्यक्त किया गया है। 'एब्सर्डिटी' यहाँ भी है और बहुत त्रासद रूप में है।

1955-56 तक भुवनेश्वर लगातार विक्षिप्तावस्था में देखे गये। पहले लखनऊ, वहाँ से ऊबे तो फिर इलाहाबाद। उनके मित्र बहुत थे, पर उनका अपना कौन था, पता नहीं। इस अकेलेपन ने उन्हें तोड़ दिया। इलाहाबाद में कटरा में भाई दयानन्दनलाल सिन्धु ने उन्हें पूरी विक्षिप्तावस्था में देखा—ख़ाकी पैण्ट, बुश्शर्ट, पैरों में चीथड़े लपेटे, दाढ़ी बढ़ी, बाल उलझे हुए। इलाहाबाद की सड़कों पर वह फटेहाल घूमते रहते थे। एक दिन अचानक वे लापता हो गये। भुवनेश्वर की मृत्य कब और कैसे, कहाँ हुई, यह अभी तक विवादग्रस्त है, क्योंकि वे अचानक ग़ायब हुए। लोगों के द्वारा दी गयी जानकारियों के आधार पर कई स्थानों में निधन के उल्लेख हैं, पर वे सब तर्कसंगत नहीं हैं। कोई बरेली में, कोई लखनऊ में चारबाग़ स्टेशन पर, कोई इलाहाबाद में सिविल लाइन्स की बेंच पर, कोई बनारस में बताता है। उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृत राय, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी आदि का मानना है कि वह 1956 के अन्त तक बनारस चले गये थे। कवि त्रिलोचन शास्त्री ने उन्हें बनारस के दशाश्वमेध घाट पर भिखारियों के बीच बीमार स्थिति में देखा। सारे शोध के बाद भी मृत्यु का दिनांक निश्चित नहीं हो सका, पर माना जाता है कि नवम्बर के अन्त में 1957 में कड़ाके की ठण्ड में उनकी मृत्यु हुई।

जिस भुवनेश्वर का यह कहना था कि बिरादर, हम जैसे ख़ानाख़राब को अब

तक किसी ने सही समझा भी है! उन्हीं के विषय में लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'क-ख-ग' पत्रिका में अक्टूबर 64 के अंक में यह कथन उल्लेखनीय है—

"भुवनेश्वर अब नहीं है। मर गये या ज़िन्दा होते हुए नहीं हैं, कहा नहीं जा सकता। लेकिन वे नीले रंग के बिजली के तार, जिन्हें वह अपनी पतलून में पेटी के स्थान पर, जूतों में फीते के स्थान पर बाँधते थे, आज भी सैकड़ों—हजारों गज इलाहाबाद में रोज़ बिकते हैं। फ़टी क़मीज़, गन्दा फटा पैण्ट, ख़ाकी चीकट-सी अंग्रेज़ी टाई और उन सब पर जाड़े के दिनों में एक फटा चेस्टर और बरसात में बरसाती, सालों से न नहाने के कारण काला मटमैला जिस्म आज भी उस प्रतिभा की याद दिलाते हैं। कुछ लोगों ने उसे चोर कहा, कुछ ने पागल, कुछ ने 'जीनियस' तो कुछ ने भिखारी, किन्तु वास्तव में वह इतना मानवीय व्यक्तित्व का प्राणी था कि आदमी की नंगी शक्ल देखने के बाद स्वयं टूट गया, चूर-चूर हो गया।"

कवि शमशेर बहादुर सिंह ने भी 'भुवनेश्वर' शीर्षक कविता में कहा है—

*"हाँ, तपती लहरों में छोड़ गये हैं वो*
*संगम, गोमती, दशाश्वमेध के कुछ*
*सैलानियों के वीच*
*न जाने क्या,*
*एक टूटी हुई नाव की तरह*
*जो डूबती भी नहीं, जो सामने ही हो जैसी*
*और कहीं भी नहीं।"*

# 3

# भुवनेश्वर की रचना-दृष्टि

भुवनेश्वर साहित्य की दिशाओं में नयी चेतना भरनेवाले साहित्यकार थे—साहित्य चाहे पुराना हो या नया, अपनी बहुआयामी, स्वतन्त्र दृष्टि से, भाषा की मौलिक शक्ति से, बौद्धिक प्रखरता से उन्होंने उसे नयी प्राण-शक्ति दी। भुवनेश्वर गम्भीर साहित्यकार चिन्तक, जागरूक व्यक्ति और दार्शनिक एक साथ थे, वह महान् व्यक्ति थे और अत्यन्त संवेदनशील मनुष्य थे, इसीलिए उन्होंने जीवन-जगत को लेकर अपने मानसिक द्वन्द्व और प्रश्नों को अपने विरोध को कई तरह से व्यक्त किया—कविता में, कहानी में, एकांकी में, 'एब्सर्ड' नाटक में, आलोचना में, निबन्ध में और साथ ही चित्रकला और अपनी प्रतिक्रियाओं—टिप्पणियों में। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व, उनका वैविध्यपूर्ण, सीमाओं को तोड़ता हुआ सूक्ष्म, जटिल साहित्य हिन्दी गद्य, हिन्दी भाषा और संरचनात्मक पक्ष का उद्घोषक है।

भुवनेश्वर के पास विलक्षण रचना-शक्ति थी और अध्ययन-चिन्तन था, जो रचनाओं में फूटकर आया। वे हिन्दी के कवि, कहानीकार, एकांकीकार, असंगत नाटककार, आलोचक, सम्पादक, चित्रकार एक साथ थे। मूलतः वे नाटककार थे। उनके व्यक्तित्व की असीमता और उसका विस्तार, उसकी दुर्दम्य जुझारू शक्ति को पहचानने के लिए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को समग्रता में समझना ज़रूरी है। हिन्दी कहानी के सम्पूर्ण 'आधुनिक पक्ष' नयी कहानी की प्रवृत्तियाँ, उसकी चेतना हमें भुवनेश्वर की कहानियों में मिलती है। 'मौसी', 'मास्टरनी', 'माँ-बेटे', 'भेड़िये' आदि कहानियाँ उनके गद्य-शिल्प और रचना-दृष्टि को प्रमाणित करती हैं। नाटक उनकी प्रमुख विधा है। उन्होंने नाटक को 'नाटक' अनुभूत करके लिखा है, वह उसका पृथक् पक्ष नहीं है, इसलिए उनके विषय में यह कहना ग़लत है कि भुवनेश्वर के एकांकी और नाटक रंगमंचीय हैं या नहीं? उस युग में साहित्य और रंगमंच के बीच के विरोधाभास और अन्तराल को उन्होंने एकदम समाप्त कर दिया है और वे कभी अपने को दुहराते नहीं दीखते। मुक्तिबोध के विषय, उनके प्रतीक, उनकी भाषा और शिल्प कविता या नाटक में दोहराये हुए लगते हैं, पर भुवनेश्वर के पास जितना अनुभव संसार है, उतने ही उनके अभिव्यक्ति के रूप भी। जितना वे अपने

जीवन में अव्यवस्थित, विवादास्पद दीखे या माने गये, उतने ही वे अपनी रचनाओं में व्यवस्थित, संयमित और स्पष्ट दीखते हैं। सारी जटिलताओं के बीच उलझाव अथवा दुविधा कहीं नहीं है।

कला और जीवन को भुवनेश्वर ने अलग नहीं माना। उनके लिए साहित्य और कला कोई अलौकिक वस्तु नहीं है। वह कला की, साहित्य की, अश्लीलता की किसी भी क्षण नयी व्याख्या कर सकते थे—'कला में अश्लीलता का अर्थ है नग्न पवित्रता'। लेकिन प्रचलित मान्यताएँ उनके लिए जीवन, समाज, साहित्य में कोई अर्थ नहीं रखती थीं। वे मध्यकाल के सन्त कवियों के पदों को भी बड़ी तल्लीनता से गा सकते थे, ठेठ शृंगारी लोकगीतों को भी, जिनका उपयोग उन्होंने 'आदमख़ोर' एकांकी में किया है पूरे दमखम के साथ। उसका रामू दुवला-पतला, बीमार-सा, बेकार, इस व्यवस्था की सड़ाँध से पीड़ित, उससे बचने के लिए भागता हुआ—जैसे वह स्वयं है उस पात्र की त्रासदी में। वह वही लोकगीत गाता है, मटकता-नाचता है, जो भुवनेश्वर—'लोकगीत के रसिया'—गाया करते थे—

लहँगा तेरा घूम-घुमउआ, लहँगा तेरा—
चोली तेरी तंग-चोली चोली तेरी तंग।

इसके साथ उसकी भद्दी आवाज़ें जीवन की सारी विसंगति पर हँसी है, उसका भद्दा मज़ाक़ है, वैसे ही जैसे वह 'आज़ादी की नींद' में आज़ादी का मखौल उड़ाते हैं। जीवन और रचना का, युग-संवेदना, सवालों और साहित्य का यह अन्तरंग, सूक्ष्म सम्बन्ध एक बड़े रचनाकार की सामर्थ्य से ही बनता है। सचमुच भुवनेश्वर जीवन के निर्मम सत्य के लेखक हैं और सच्चे संवेदनशील कलाकार मन से, बौद्धिक अंकुश के साथ लिखते हैं।

भुवनेश्वर का समाज के उस वर्ग के प्रति विशेष आग्रह था, जो उपेक्षित है, निर्धन और समाज द्वारा अपमानित है, दुखी और रोगी है, अकेला है। उनके अपने निजी जीवन के अनुभव व्यापक मानवीय अनुभव सामाजिक दृष्टिकोण के साथ साहित्य में व्यक्त हुए हैं। उनके आरम्भ के नाटकों में, कहानियों में स्पष्ट समाजवादी नज़रिया मिलता है। वे उनमें परम्परागत मान्यताओं, प्राचीन मूल्यों, व्यवहार-क्रियाओं के विरोधी दीखते हैं। जात-पाँत, छुआछूत, बेमेल और विषम विवाह, दाम्पत्य सम्बन्धों का घिसा रूप, संकीर्ण विचार—चाहे धर्म हो या समाज और आर्थिक विपन्नता को वैषम्य का भीषण रूप मानते हुए वे भीतरी मानवीय संवेदना को, चेतन शक्ति को बचाये रचना चाहते हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था से वे मनुष्य की मुक्ति चाहते थे। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद पर, झूठ, पाखण्ड पर वे खुलकर व्यंग्य करते हैं। पूँजीवादियों को उन्होंने हमेशा व्यक्ति और समाज के लिए जोंक या भेड़िया समझा। उनकी 'भेड़िये' कहानी एक 'पूरी सामाजिक दृष्टि' है। *ताँबे के कीड़े* तथा अन्य

एकांकी भी केवल शिल्प या असंगत नाटक की धारा नहीं हैं, वहाँ भुवनेश्वर की बहुत उर्वर, कल्पनाशील, सहज और तीव्र सृजनशीलता और प्रयोगधर्मिता एक साथ सामने आती हैं।

भुवनेश्वर गाँधी के विचारों और कार्यों से प्रभावित थे। 'हरिजन' पत्र में प्रकाशित गाँधी जी के लेखों से भुवनेश्वर का मन बहुत आन्दोलित होता था, वे गाँधी जी की 'सरल भाषा में विस्तृत अर्थों की बहुत चर्चा करते थे। अपने अन्तिम दिनों में विशेष तौर पर भुवनेश्वर को गाँधी का मानवीय पक्ष छूता था। धर्म के प्रति भी उनका रुझान था पर रूढ़िबद्ध तरीक़े से नहीं। धर्म के 'मानवीय पक्ष' को वे स्वीकार करते थे। *बाईबिल* उन्हें विशेष प्रेरणा देती थी। आगे चलकर पारलौकिकता का आग्रह, पुराणों की ओर उनका लौटना शोध का विषय है। लेकिन भुवनेश्वर न तो नियतिवादी, न आदर्शवादी, न यथार्थवादी प्रगतिवादी हैं। वे न भावुक रचनाकार हैं, न बुद्धिवादी। हर वाद, शास्त्र या सिद्धान्त के विरुद्ध वे विद्रोह या आन्दोलन भी नहीं करते, पर विना वक्तव्यों या आन्दोलन के वह स्वतन्त्रचेता 'जीनियस' रचनाकार हैं। उन्हें मात्र व्यंग्यकार भी नहीं कहा जा सकता, न मात्र शिल्पकार, जबकि व्यंग्य और शिल्प उस युग में उनके सबसे सशक्त पक्ष हैं और आज भी हैं। वे किसी भी साहित्यिक खेमे में नहीं थे। दोगली प्रवृत्तियों से परे निरन्तर संघर्षशील थे। उन्होंने विकृतियों, विद्रूपताओं को उघाड़कर रख दिया है। तथाकथित नैतिकता, कृत्रिम जीवन और सम्बन्धों, मूल्य-भ्रष्ट लोगों को वे खोलकर रख देते हैं–अनावृत करने की कला-क्षमता उनमें है। सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता से अलग वे स्वाभिमानी और स्वाधीन वृत्ति के रचनाकार थे। उनकी 'सार्वभौमिकता' ही उनकी पहचान है।

भुवनेश्वर में हम काल्पनिक, वायवी, भावुक संस्कार नहीं पाएँगे, यद्यपि वे भावुक थे और भावुकता को कलाकार के लिए विष भी मानते थे, न फूहड़, रुग्ण, घृणित यथार्थवाद, यद्यपि वे कटु यथार्थ के लेखक थे; न उनमें अनोखे ज्ञान, मनोविश्लेषण का वह फ्रायडवाद है, यद्यपि सेक्स-ग्रन्थियों को वे ख़ूब लेते हैं, दमित इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। वे आदर्शवाद और यथार्थवाद के अन्तर को नहीं मानते–"यथार्थवाद और आदर्शवाद का अन्तर पाठक के मस्तिष्क में होता है, लेखक के नहीं।"

हिन्दी नाटक में अगर वे प्रसाद की भावुकता और काव्य के विरोधी थे, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक के कृत्रिम प्रयास, समस्या, तर्क, समाधान के भी–"विवेक और तर्क तीसरी श्रेणी के कलाकारों के चोर दरवाज़े (ट्रैप डोर्स) हैं। यद्यपि भुवनेश्वर की हर रचना में हर स्थिति, कार्य, पात्र के पीछे तार्किकता होती है। जीवन और कला दोनों को वे निस्सार मानते हैं और निष्फल भी–"जीवन एक लजीली मुस्कान है, कला एक शुष्क और कठोर हास्य।" *कारवाँ* के प्रवेश में कहे गये भुवनेश्वर के ये सभी वाक्य सूक्त वाक्य हैं–जीवन के अनुभव से रचे गये।

जिन बातों को लेकर साहित्य जगत में भुवनेश्वर का बहुत विरोध हो रहा था, उन्हीं को लेकर उन्होंने कहा, "आधुनिक हिन्दू जीवन में ट्रेजिडी केवल तीन बातों तक सीमित हैं—वैधव्य, प्रेम तथा जिसका अन्त विवाह नहीं होता और पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के संसर्ग से किसी पात्र में एक मुखर, 'बौड़मपन' का प्रवेश।" ज़ाहिर है प्रेम, स्त्री, विवाह, को लेकर भुवनेश्वर जितने बेबाक हैं और अंग्रेज़ी साहित्य की जितनी जानकारी उन्हें है, उसे ऊपर ऊपर से स्थूल अर्थों में पकड़ने की आवश्यकता नहीं है; ज़रूरी है 'आत्मज्ञान' की, लेकिन वही तो मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या है।

वस्तुतः यथार्थ को देखने की भुवनेश्वर की विशिष्ट दृष्टि थी। उनमें रोमांटिक नज़रिया था और दबंगपन भी। 'सत्य कहने की सामर्थ्य सबमें नहीं होती, सत्य भयानक तथा कुरूप होता है। अपनी रचनाओं में भुवनेश्वर किसी भी प्रकार की 'अति' से बचते हैं, 'क्लाइमेक्स' के प्रचलित रूप से भी। नाटककार लक्ष्मीकान्त वर्मा बहुत अच्छी तरह स्पष्ट करते हैं कि भुवनेश्वर 'अतिनाटकीयता' से जिस प्रकार बचते हैं, उसी प्रकार वह 'अतिमानवीयता' से भी बचते हैं। मूल्यों के स्तर पर वे दोनों को निरर्थक मानते हैं, क्योंकि वे जीवन की सम्पूर्णता में अप्रासंगिक हो जाते हैं। भुवनेश्वर 'रूढ़िवादी' या 'आधुनिक', दोनों को अस्वीकार करते हैं; पर उनका 'अस्वीकार' मृत्यु तक नहीं जाता, न अनस्तित्व तक। अगर वे 'स्थिर' के विरोधी हैं, तो 'अस्थिर' के भी। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व देते हैं और उसी में समाज की स्वतन्त्रता मानते हैं। अपनी रचनाओं में जीवन को बचाकर रखने की स्थिति वे बराबर बनाये रखना चाहते हैं। एकरसता, एकरूपता उन्हें कहीं भी पसन्द नहीं। व्यक्ति वैसा ही रहे और समाज बदलता रहे, यह सम्भव नहीं है। इसीलिए वे शिल्प में भी एकरूपता नहीं रखते। उन्होंने विभिन्न विषयों से अपने साहित्य को, रचना-दृष्टि को अनुशासित किया है। केवल पश्चिमी प्रभाव नहीं, वे इतिहास, पुराण, समाजशास्त्र, मार्क्सवाद सबसे मदद लेते हैं और सब घुल-मिलकर उनकी रचनाओं में आते हैं, दिशा देते हैं। बहुत-से रचनाकारों की तरह उनकी एक विधा का रूप या कथ्य दूसरी विधा के रूप या कथ्य पर हावी नहीं होता। वे न किसी के मोह में फँसते हैं, न अपना लेखकीय हस्तक्षेप करते हैं। सबको अपने भीतर उतार लेने की क्षमता उनमें है। भुवनेश्वर के पास समाज की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है—चाहे 'लाटरी' हो या 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना'। भुवनेश्वर ने जो आर्थिक संकट झेला, वही रचनाओं में आर्थिक विपन्नता के रूप में उतर रहा था, लेकिन भुवनेश्वर स्वयं आकर खड़े हो गये हों, ऐसा नहीं था।

नर-नारी सम्बन्ध सबसे ज़्यादा सूक्ष्म, सहज रूप में भुवनेश्वर में उतरता है। नारी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसके अन्तर्मन से ज़्यादा वे स्त्री को 'शरीर' रूप में देखकर सोचते हैं। यह चिन्तन और अभिव्यक्ति का बहुत क्रान्तिकारी अन्तर था।

उस समय साहित्य में नारी भारतीय मूल्यों में अन्तर्जगत् से बँधी थी। भुवनेश्वर ने उस प्रतिमा को झटके से छिन्न-भिन्न कर दिया है। हर विधा में ऐसा लगता है कि नारी के लिए घर-परिवार, समाज, साहित्य में जितने भी स्थापित मूल्य हैं, परम्पराएँ हैं, वे अप्रासंगिक हैं। ऊपर से हमें तीव्र विरोधाभास लगेगा और चौंकानेवाला भी। यह भी लगता है कि मानवीय मूल्यों या समाज में नारी की प्रकृति और चरित्र के विषय में आख़िर वे क्या दिशा दिखाना चाहते हैं। सच यह है कि उनके पुरुष पात्रों और स्त्री पात्रों, दोनों में सम्पूर्ण जीवन का सत्य नहीं है। पुरुष पात्र कमज़ोर हैं, पलायनवादी—ख़ासकर पति और प्रेमी। निराला का ओज और पौरुष या प्रसाद का औदात्य और आधुनिक मानवीय द्वन्द्व या प्रेमचन्द का यथार्थ—संघर्ष इनमें नहीं है—ये पूरे समाज और स्थापित आदर्शों के प्रति एक अभिव्यक्ति हैं। भुवनेश्वर न कोई निर्णय देते हैं, न कठोर आग्रह करते हैं, न कोई दावा। उनके पुरुष पात्र उन संस्कारों और पौरुष से हटकर हैं, उससे भी ज़्यादा उनके स्त्री पात्र न देवी हैं, न माता, न उदात्त नैसर्गिक गुणों से युक्त हैं, न प्रेमिका, अधिकतर वे दोहरे चरित्र की हैं। उनका बाह्य और अन्तर बहुत क्रूर और हिंसक लगता है। नाटक जैसी प्रत्यक्ष विधा में ही उन्होंने नारी के रूप को, भिन्न, स्वच्छन्द, रूप में देखा है, कहानियों में उतना नहीं। यह भी भुवनेश्वर की साहसिकता और प्रयोग-वृत्ति है। वे मानते हैं कि "प्रतिहिंसा और प्रेम में स्त्री पुरुष से अधिक 'आदिम' है, यही सारी समस्या का मूल है।" ..."नारी पुरुष से कहीं क्रूर है और इसलिए पुरुष से कहीं अधिक सहनशील होने का दावा कर सकती है।" ..."स्त्री एक पहेली है और उस पुरुष से घृणा करती है, जो वह पहेली बूझ सकता है।" ..."पुरुष स्त्री के लिए आवाहन है, निमन्त्रण है, पर स्त्री पुरुष के लिए एक 'चैलेंज' है, चुनौती है।"... ये सभी वाक्य और इनके अतिरिक्त बहुत सारे वाक्य एक जीवन-सार की तरह, अनुभव-भण्डार की तरह *कारवाँ* के उपसंहार में प्रकाशित हैं, जो भुवनेश्वर के व्यक्तित्व, उनकी दृष्टि को, उनके साहित्य को समझने में सहायक होते हैं। विवाह, प्रेम, समाज, सम्बन्धों की, सेक्स की नयी व्याख्या विश्व-स्तर पर—उनके दिमाग़ में घूमती-रचती दीखती है। पुरुष से ज़्यादा लेखक स्त्री स्वभाव, उसकी इच्छाओं-वासनाओं-प्रतिक्रियाओं को, उसकी ज़रूरतों को, विरोधाभासों को पहचाने को दावा करता दीखता है। ये कहीं-कहीं बहुत आक्रामक, असंगत भी लगते हैं। ये विचार भुवनेश्वर के शोध और अध्ययन, विश्लेषण के द्वार खोलते हैं, उनसे आतंकित होना या विरोधात्मक, नकारात्मक मुद्रा एवं पूर्वाग्रह अपनाना उपयुक्त नहीं है। विशेष बात यह है कि ये सब पाश्चात्य प्रभावों के परिणाम नहीं हैं, ये भुवनेश्वर के विचार हैं, विश्व-मानव सन्दर्भ में, स्त्री के व्यक्तित्व को लेकर, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर उनका दृष्टिकोण, निचोड़ है—हम उनसे असहमत हो सकते हैं, लेकिन ये हमारे विचारों को उकसाते हैं। समाज और साहित्य में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के प्रति भुवनेश्वर 'राग',

प्रेम के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। ये पात्र कुंठित हैं, उपेक्षित हैं। उनके नाटकों की स्त्रियाँ सन्देह से घिरी हैं। उनमें वह शील-मर्यादा नहीं है, जो उनके और पुरुष पात्र के व्यक्तित्व को खड़ा कर सके। हर रचना में स्त्री बिखर जाती है, टूटती और खण्डित होती है, उसका सशक्त और अविस्मरणीय रूप नहीं रह जाता। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके कहानी और एकांकी ही हैं, जिनमें अपने लघु कलेवर के कारण शायद वह विस्तार नहीं मिल पाता।

भुवनेश्वर में सम्बन्धों के प्रति, स्त्री के प्रति अविश्वास मिलता है। अपने पूरे रचना-जगत् में उन्होंने स्त्री-पुरुष यौन-सम्बन्धों और ग्रन्थियों को ही लिया है। जीवन के अन्य मधुर क्षणों को वह लाते ही नहीं। स्त्री-पुरुष एक दूसरे को अपने सम्बन्धों की ऊष्मा से कहीं जीने का, जीवन के पूरक होने का आधार नहीं बनते। पात्रों और सम्बन्धों के स्तर पर रागात्मकता, संतुलन का न होना ही खटकता है। भुवनेश्वर का निजी जीवन और आत्मसंघर्ष इसके कारण हो सकते हैं, पर उनके रचनाकार की सार्थकता चरित्रों की अवधारणा और निर्वाह से और अधिक बढ़ती। इसीलिए उनकी तुलना 'नीत्शे' से की जाती है, क्योंकि इस तरह स्त्री द्वारा उपेक्षित पुरुष के दर्शन हम नीत्शे में प्राप्त करते हैं। वह भी स्त्री को पाप और शरीरी मांसलता में, क्रूर रूप में देखता है। भुवनेश्वर की दृष्टि इस माने में एकांगी ही कही जाएगी। उनकी स्त्री छल द्वारा पुरुष को हराती ही दीखती है और पुरुष पात्र में उसके आचरण को, छद्म को तोड़ने की ताक़त या साहस नहीं है। शरीर के अतिरिक्त भी स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं—यह पक्ष उनसे बिलकुल छूटता चला गया है। उनके पुरुष पात्र 'रोमांस : रोमांच', 'शैतान' और भी कई जगह क्यों स्त्री की घृणा का शिकार होते हैं और परिस्थिति का सामना न कर कायर की तरह हट जाते हैं, यह प्रश्न निरुत्तर रह जाता है। यह सत्य है कि स्त्री के प्रति भुवनेश्वर के मन में एक गुस्सा है, पर पुरुष की कायरता के प्रति क्यों नहीं? हमेशा घृणा और गुस्सा ही नहीं, स्त्री की आर्थिक विवशता, वैवाहिक सम्बन्धों के निर्वाह का दर्द उन्होंने पकड़ा भी है—उसकी यह पीड़ा भी कि पुरुष उसकी विवशता का लाभ क्यों उठाता है? भुवनेश्वर के नाटकों में यह आक्रोश व्यक्त हुआ है कि स्त्री शोषण को, यौन अत्याचारों को क्यों सहन करती है? भुवनेश्वर में उसके प्रति दोनों भाव हैं—आक्रोश भी और करुणा भी। सहसा पढ़ने पर वह बहुत आक्रामक लगता है, कटु सत्य लगता है, पर उसके भीतर गहरी पीड़ा भी रहती है। भुवनेश्वर जिन सामाजिक विडम्बनाओं और मनःस्थितियों में स्त्री के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हैं, उन्हें पूरी तरह समझकर ही यह जाना जा सकता है कि उनकी नारी वस्तुतः विद्रोहाग्नि की तरह स्वयं धधक रही है। भुवनेश्वर अपने तरीक़े से बहुत पहले ही नारी मुक्ति के सवाल छोटे-छोटे एकांकियों में उठा देते हैं—और बड़े साहस के साथ। हिन्दी नाटक में नारी का इतना निःसंकोच रूप, इतना साहसी रूप नितान्त नया

था—आज भी है, इसलिए उसके प्रति सहसा तीव्र आलोचनाएँ हुईं। पाश्चात्य नाटकों में भी स्त्री-स्वतन्त्रता, दाम्पत्य सम्बन्धों की ऊब और प्रणय-प्रसंग मिलते हैं, पर वे नारी पात्रों की चीख़-चिल्लाहट, घुटन के रूप में ही व्यक्त हुए हैं, भुवनेश्वर अपना अलग रास्ता निकालते हैं। उनकी स्त्री बहुत साहसी और बेबाक है। शायद यह 'विशेषता' उनमें इसलिए आयी कि उनकी दृष्टि हमेशा व्यापक विश्व-सन्दर्भों पर थी। भारतीय समाज में नारी का शोषण और पश्चिमी समाज में स्वतन्त्रता के नाम पर नारी की बाहरी चमक-दमक और खोखलेपन के विरुद्ध रहा आक्रोश उनमें व्याप्त रहा। वे सम्पूर्ण नारी जगत पर प्रतिक्रिया देते हैं—दो टूक, जो लोगों को, भ्रमित करती है। इसी कारण उन पर इब्सन और शॉ के प्रभावों और नक़ल की बात बार-बार कही जाती है। दोनों का प्रभाव तो है, शॉ के प्रभाव को भुवनेश्वर स्वयं स्वीकार भी करते हैं—विशेषकर 'शैतान' में, परन्तु उनकी नारी और शॉ या इब्सन की नारी में परिवेशगत अन्तर है। इन बिन्दुओं पर गम्भीर विचार अपेक्षित है। भुवनेश्वर न पलायन करते हैं, न विद्रोह, न आदर्श बताते हैं, वे एक रचनाकार की संवेदना से मानवीय शक्ति के लिए जूझते हैं। इसीलिए उनका सारा सौन्दर्य-बोध ही बदला हुआ है।

# 4

# भुवनेश्वर की कविताएँ

भुवनेश्वर निराला के बाद हिन्दी साहित्यकारों में मौलिक प्रतिभा के धनी रचनाकार थे। उनका बहुआयामी व्यक्तित्व कविता के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा और रचनाधर्मिता को व्यक्त करता है। वे वस्तुतः कई भाषाओं के गम्भीर विद्यार्थी थे और उर्दू कविता के मर्म को बहुत अच्छी तरह समझते थे। उर्दू कविता का रसज्ञ उन्हें कहा जा सकता है। अच्छी ग़ज़लें, शेरों शायरी गा-गाकर पढ़ना और उन पर गहरा अनुराग उनकी विशेषता है। शमशेर जी ने इसीलिए उनकी उर्दू साहित्य की जानकारी और बेधड़क बातचीत की चर्चा की है। उर्दू के साथ-साथ अंग्रेज़ी कविता पर उनकी बड़ी पकड़ थी। भुवनेश्वर ने बहुत सारी कविताएँ हिन्दी और अंग्रेज़ी में लिखी थीं, जिनमें से कुछ का अनुवाद शमशेर जी ने स्वयं किया। उनमें से एक कविता 'संकेत' में छपी है। बताया जाता है कि उनकी कुछ अंग्रेज़ी कविताएँ 'हिन्दी रिव्यू' में छपी थीं, जो प्राप्त नहीं है। उनकी कई प्रकाशित-अप्रकाशित कविताएँ और अन्य रचनाएँ उनके मित्रों के पास थीं। कृष्ण नारायण कक्कड़ द्वारा भुवनेश्वर की कुछ अंग्रेज़ी कविताएँ और उनके हिन्दी अनुवाद उपलब्ध हुए हैं। कुछ का अनुवाद रमेश बक्षी ने किया है। सम्पादक राजकुमार शर्मा ने अपनी पुस्तक *भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व* में स्पष्ट किया है कि "भुवनेश्वर प्रसाद की हस्तलिपि में चार अंग्रेज़ी कविताएँ श्यामसिंह सेठ से प्राप्त हुई थीं, जिनका हिन्दी रूपान्तर रमेश बक्षी ने किया है।" ये कविताएँ इस कटु यथार्थ, इस अमानवीय, क्रूर जगत के विरुद्ध एक अनन्त जिज्ञासु जगत की, अनेक सपनों की कामना करती हैं। प्रेम, उन्मुक्त हँसी, मानवीय संवेदना कवि की एक अबूझ चाह है, जिसे वह अपनी तराशी भाषा और शिल्प में कहता है–

> एक प्यारी-सी लड़की अकेले प्रकाश में
> उसका चेहरा ही प्यार बोलता था
> मैंने उसका आलिंगन किया
> मैंने उसके होंठों को चूमा
> आह कितना सुखद...सुख...

लेकिन इस सुख को, इस तन्मय आनन्द को मिटानेवाले हैं नेता, योद्धा, राजे-महाराजे। जैसे निराला ने लिखी 'राजे ने अपनी रखवाली की'—निराला स्थिति को बताते भी हैं क्रमशः और तब संकेत करके छोड़ते हैं—भुवनेश्वर बताते नहीं हैं, कविता को अचानक मोड़ देते हैं—तीखा, व्यापक संकेत देकर और स्वयं ईश्वर का, ब्रह्मा का अभिनय करके कल्पना से एक अर्थ देते हैं कविता को। पूरी धरती माँ की गोद हो, वह स्वयं उसकी गोद में हों, आकाश का प्याला हो और यह प्याला खुली हँसी से भरे। लेकिन क्या ऐसा है? या हो सकता है? यदि ऐसा हो तो—(A dirge ; if it may be)), भाग-दौड़ की इस अँधेरी ज़िन्दगी में, इस भावहीन रूखी-सूखी ज़िन्दगी में उनकी कतिवाएँ एक बच्चे की किलकारी की तरह 'सब कुछ मधुर' का एक एहसास कराती हैं। अपनी 'कहीं कभी' (Somewhere) में भी वे अपने सपनों का इन्तज़ार करते हैं—

कहीं कभी सितारे अपने आपके लिए
आवाज़ पा लेते हैं और
आस-पास गुज़रते उन्हें छू लेते हैं—

छायावादी रोमानियत के विरुद्ध उपमान, शब्द वही हैं—आकाश, प्याला, सितारे, सपने, पर उनके अर्थ बदल गये हैं। भुवनेश्वर ने छायावादी रंगों को नयी भंगिमाएँ दी हैं। कभी-कभी भुवनेश्वर की कविता मुक्तिबोध के निकट भी लगने लगती है। जहाँ अफ़वाहें हैं, जंगल हैं, जन्तु हैं, बर्बरता है और संवेदनशून्य होते जाते आदमी का भयानक बदलता रूप है—मूल्यहीन संसार, वास्तविक अनुभव जहाँ अब उपमा या रूपक बन गये हैं—

दिमाग़ी तारों के बीच
जो अब बीती—अनबिसरी बातों की
कनफूसी बीने भी नहीं समझते
अब उन अफ़वाहों की तरह देखते हैं
जो किसी वन-प्रान्तर के जंतु में जीवित है...

उस बहशी दुनिया में शायद उन्हें बच्चा सबसे निश्छल, उज्ज्वल, अनिवार्य सृष्टि लगता है। The Birth of Christ में उनका विराट जगत और अमूर्त उपमानों का अनन्त फैलाव और सूक्ष्म व्यंजनाएँ द्रष्टव्य हैं। वह बच्चा कविता में 'सृजन की प्रभु-कृपा' भी है और सहसा वह नाटकीय विडम्बना में बदल जाता है—विडम्बना विपन्नता की, इस अकेलेपन की, उपेक्षित, निस्सार जीवन की—

घूमकर देखा और वह परेशान थी
एक गुस्सैल दुःखी बच्चे की तरह।

उसके पाँव कँपकँपा गये
और उसकी आँखें सूज गयीं।

माँ, ईश्वर, ईसा, ग़रीब लोहार, पशु से सब उनकी कविता की रचना के विम्ब हैं। विसंगति और विलक्षण अभिव्यक्ति की अजब भंगिमाएँ पैदा होती हैं कविताओं में। एक दो टूक लहजा भी बनता है, पर सपाटबयानी नहीं। 'रूथ के लिए' या 'रूथ के प्रति' (To Ruth) में भुवनेश्वर की स्पष्टता विश्वास, मूल्यों और जीवन की आस्था देखी ही नहीं, अनुभव की जा सकती है।

यदि प्रसन्न पंख गिर जाएँ
और दृष्टि आँखें मूँद ले
बाज दम तोड़ दे
और मकरंद की आँखों में आँसू आ जाएँ
यदि दोपहर चमकने लगे
आगामी कल के उजेले से
रातों में सन्नाटा छा जाये
मछुआरों की पतवारों के साथ
यदि वह झूठ बोलने के लिए भी
शोक मनाना चाहता है
और सच बोलने के लिए मरना चाहता है
और सच बोलने के लिए मरना चाहता
तो उसके लिए
बोलने के साथ मर जाना बेहतर है
रूथ के कान में कुछ कहने के बजाय?

अंग्रेज़ी में रूथ का अर्थ दया और निर्ममता दोनों है। पूरी कविता में एक विचित्र-सी कसक और कशिश का अनुभव होता है। अंग्रेज़ी, उर्दू, लोक की ज़मीन साफ़ नज़र आती है, पर रचना आधुनिक लगती है, मानवीय संवदेना से भरी! उनके शब्द, उनकी कल्पना पूरी अनुभूति का एहसास कराती है।' 'आँखों की नमी' (The Mist of the Eyes) में कवि भुवनेश्वर परम्परा और वर्तमान अनुभव को जिस तरह ढाल देते हैं रचना में, कम-से-कम शब्दों में गहरी-से-गहरी बात कह लेते हैं—और बड़े आत्मीय 'टोन' में भी और तेज़ तीखे ढंग से भी, वह एक नयी तराश देता है—

आँखों की नमी एक अजीब अफ़वाह फैलाती है
पिघलते हुए दिल की
और पसीजती रोटी की...
पत्थर में एक हीरा जनप्रिय कहानी है

और पत्थर दिल में से
उपजती पसीजती नम आँखोंवाली रोटी की...

ग़रीबी का मूसल, उसका संघर्ष और कचोट उनकी कविता को अर्थ देता है—एक सन्देश की तरह नहीं, एक मानवीय अर्थ के साथ—ग़रीबी की यह पछोड़, यह दर्द यूँ ही नहीं जाएगा, यह सब्र का मुँह आज बँधा है, पर कल ज़रूर खुलेगा—

और यही नई सुबह की शुरुआत है। सारी अमानवीयता और यातना-चक्र, साथ ही सहन शक्ति को इस अन्दाज़ में व्यक्त करना भुवनेश्वर की रचना-शक्ति को सामने लाता है।

'बौछार पे बौछार' (Rain upon Rain) एक और सशक्त कविता है। यहाँ भी संघर्ष और कटु यथार्थ है, जिसे व्यक्त करने के लिए कवि एक तीव्र टोन का, लय का सहारा लेता है और अपने आस-पास के प्राकृतिक जगत का—बारिश, बादल, आग, गुलाब, अन्धड़ और इन सबके बीच वह अप्राकृतिक जगत भी—मठ के पुजारी, फ़ौजीधावा वही व्यक्ति, अफ़वाहें, अपशकुन वग़ैरह। हमारे समाज, समय और व्यक्तियों एवं स्थितियों के सारे अन्तर्विरोध कविता में उतर आते हैं—

बौछार पे बौछार
सनसनाते हुए सीसे की बारिश का ऐसा जोश।

कभी-कभी भुवनेश्वर कविता को एक रहस्यमय आकार देते हैं—यथार्थ जासूसी ढंग से आता है, रोमांच पैदा करता हुआ और अन्त में तीखी संवेदना पैदाकर चला जाता है। कविता उसी जादुई, नाटकीय ढंग से शुरू होती है—'खुल सीसामा' (Open Sesama) ऐसी ही कविता है—

खुल सीसामा
और खुल गया द्वार वह
जिसकी मुहरबन्द शक्ति में
धन था
धन!
अतिरिक्त और
हो भी क्या सकता भला
उस अलीबाबा के लिए
कि जिसका...धनी हुए बिना ही
धन पर अधिकार हो गया था...
तो क्या वह बीमार हो गया था?

कविता भी सहसा 'सिम सिम' की तरह खुलती है और 'मुहरबन्द शक्ति' का

व्यंग्य पैनेपन के साथ मूर्त करते हैं और अन्त की पंक्ति एक मार की तरह आती है। यह भुवनेश्वर की निजी मौलिकता है, उनकी हर कविता में क्रियाएँ मुख्य हैं, आडम्बर नहीं, गति और कार्य हैं, संवेदना है, संकेत हैं। उनकी तीखी संवेदना 'नदी के दोनों पाट' (On Both Sides of the River) में और खुलकर आयी है। अपनी ज्वलंत शक्ति और सांकेतिकता में यह निराला की 'बादल राग', 'महँगू महँगा रहा' जैसी कविताओं की याद दिलाती है—

नदी के दोनों पाट
लहरते हैं
आग की लपटों में
दो दिवालिये सूदख़ोरों का सीना
जैसे फुँक रहा हो।

नदी के दोनों पाट जल रहे हैं, दोनों दुखी हैं, दोनों को नींद नहीं आती। कवि शमशेर बहादुर सिंह ने इन कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी बहुत सहज और सघन संवेदना से किया है। भुवनेश्वर की अभिव्यक्ति में कहीं कोई अतिरंजना नहीं होती, अद्‌भुत संघर्ष और तनाव होता है—वही उसकी लय और संकेत नियन्त्रित करते हैं। चीज़ों की निरर्थकता, विस्तार, पुनरावृत्ति वैसे भी भुवनेश्वर के साहित्य में नहीं है—वर्तमान का संकट वहाँ सबसे महत्त्वपूर्ण है और उसी में वे अतीत और भविष्य को जोड़ देते हैं अनायास। ज़्यादातर ये लघु कविताएँ हैं, पर बड़ी संश्लिष्ट और अनूठी हैं। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति ही रचना में पारदर्शिता लाती है। कवि कहीं न आरोपित दीखता है, न कविता भारी या अस्पष्ट; पर उसका हस्तक्षेप नज़र आता है। उनकी कविताएँ किसी वाद के घेरे में नहीं आतीं—न यथार्थवाद, न प्रयोगवाद, न आधुनिकतावाद। कहा जाता है कि अपने जीवन के अन्तिम दौर में भुवनेश्वर हिन्दी में लिखना छोड़ चुके थे और निराला की तरह केवल अंग्रेज़ी में लिखते थे। उनकी लिखी कुछ अंग्रेज़ी कविताएँ 'बिब्लिकल मिथों' पर आधारित हैं। उनमें से दो चार कविताएँ कवि-आलोचक-सम्पादक लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'निकष' में छापी थीं। इस समय उन्होंने अपना नया नाम भी रख लिया था। उनकी कई रचनाएँ—चित्रांकन, कहानी, नाटक—'हाडा' नाम से आ रही थीं। शायद बहुत-से दुनिया के कवि, कलाकारों की तरह वह भी धर्म और पुराण की ओर लौट रहे थे और जन्म और मृत्यु के, प्रेम के उत्तर पुराणलोक में तलाशना चाहते थे। यहाँ यथार्थ और तनाव से मुक्त होने के लिए एक भिन्न प्रकार का जीवन जीने की चाह थी, जिसे हम आध्यात्मिक कह सकते हैं, पर उसे कोई नाम या निश्चित दृष्टि देना इसलिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि भुवनेश्वर सहसा अन्तर्धान हो गये। उनके इस बदलाव का, इस आकांक्षा का क्या रूप बनता, यह कहना भी कठिन है। इन

कविताओं के बीच में उनकी 'विश्वास', 'अंगीठी', 'ओ प्राण पपीहे बोल बोल' कविताएँ भी हैं, जो उतनी परिपक्व नहीं लगतीं, न अनुभूति में, न अभिव्यक्ति में। ये कविताएँ छायावाद युग की रोमानियत भी लिये हुए हैं। पर इनमें वह शिल्प और भाषा, वह संकेत और लयविधान नहीं है, जो छायावादी काव्य में था। फिर भी उनमें एक प्रस्थान है, पूरा इतिहास है काव्य का, एक दर्द हैं 'क्रौंच-वध' की पीड़ा-सा—

जीवन में अब कैसा वसंत
कैसा पतझड़ कैसी उमंग?
क्या आदि-अंत क्या विरह-मिलन
क्या अश्रु-ज्वाल, क्या रास-रंग?
कलिका के क़ैदी सुरभि प्राण
अब कहाँ मधुप गुनगुन अनमोल?

---

# 5
# भुवनेश्वर की कहानियाँ

जिस तरह भुवनेश्वर की कविताएँ लीक से हटकर थीं, उसी तरह उनकी कहानियाँ भी। गद्यशिल्पी भुवनेश्वर की कहानी न वर्णनात्मक है, न आदर्शवादी न यथार्थवादी, न भावुक, आलंकारिक, बल्कि ये कहानियाँ ज़रा भी अमूर्त नहीं हैं, पर सार्थक संकेतों से भरी हैं। इतनी तटस्थ कहानी उन्होंने लिखी कैसे उस समय? उस समय तो कहानीकार उपस्थित दीखता था पूरी कथा-संरचना में। आश्चर्य है कि भुवनेश्वर की चर्चा हिन्दी में नाटककार के रूप में ही होती रही, कहानीकार के रूप में तो हुई ही नहीं। प्रश्न यह नहीं है कि वे मूलतः क्या थे? कहानीकार या नाटककार? मूलतः वे एक अत्यन्त सशक्त रचनाकार थे, ईमानदार रचनाकार। जिस प्रकार मूल्य भ्रष्ट हो रहे थे, सामाजिक मुखौटे बदल रहे थे और सम्बन्धों में, आचरण में कुरूपताएँ आ रहीं थीं—उस सबमें और जीवन के बुनियादी तत्त्वों में वे पूरी ताक़त से लगे, भ्रष्ट नीतियों, अनैतिकता, कुरूप चेहरों को वे जिस तरह दो टूक प्रहार करके खोलकर रख दे रहे थे, वह उनकी विलक्षण रचना-क्षमता है। बड़ी तीखी सामाजिक चेतना मिलती है उनकी कहानियों में। कोई आरोपित भावुकता नहीं, कोई छद्म नहीं, न कोई क्रान्ति की नारेबाज़ी। जबकि वह युग रूमानियत का था, दार्शनिकता का था। उस समय अज्ञेय भी रोमानी कहानियाँ ही लिख रहे थे, जो *त्रिपथगा* में संकलित हैं। भुवनेश्वर को कैसे भी किसी भी विधा में हम रोमानी नहीं देखते। उन्होंने साहित्य को किसी भी प्रकार के आडम्बर से, मुखौटे से, विद्रोह की नारेबाज़ी से मुक्त किया। उन्होंने कहानी को बहुत तीव्र व्यंग्य, सांकेतिकता और नये कहानीकार की गहरी तटस्थता के साथ लिखा। यथार्थ तो उनके समूचे साहित्य का जीवन्त आधार है, पर यथार्थ के प्रति हर रचनाकार की अपनी दृष्टि होती है। भुवनेश्वर की रचना-दृष्टि और यथार्थ के प्रति उनका नज़रिया उनकी कहानियों से स्पष्ट होता है। उनके पास न घटनाएँ होती हैं, न कथा का क्रमबद्ध विकास; न प्रेमचन्द की क़िस्सागोई पर बहुत गहरा अनुशासन होता है, अद्वितीय कथा होती है और पूरी संवेदना से रचना चरित्र। क्षण विशेष को वे इस तरह पकड़ते हैं कि सारी विडम्बनाएँ, संवेदना,

मानवीय प्रश्न उजागर हो जाते हैं। अन्य कहानीकारों जैसा कोई वर्णनात्मक प्रयास, निरर्थक कथन, कथा-तत्त्व होता ही नहीं।

भुवनेश्वर की पहली कहानी 'मौसी' अक्टूबर 1934 में 'हंस' में प्रकाशित हुई थी। बाद में प्रेमचन्द ने इसे *हिन्दी की आदर्श कहानियाँ* में संकलित किया और उसकी भूमिका में (पृ. 26) लिखा—

> "इनकी शैली में चोट है, ओज है और है आधुनिक कला की छाया। भविष्य में आशा है उनकी लेखनी और विचार शैली प्रौढ़ साहित्य की अच्छी सेवा कर सकेगी।"

उनकी अन्य कहानियों में 'हाय रे मानव हृदय' मार्च 1935 में 'हंस' में छपी फिर 'एक रात' जून 1936 में 'हंस' में, 'माँ बेटे' 1937 में, 'एक स्केच' सितम्बर 1939 में 'हंस' में छपीं। शुकदेव सिंह ने 'एक रात' का शीर्षक 'लड़ाई' और 'एक स्केच' का शीर्षक 'सूर्यपूजा' कर दिया है। 'भेड़िये' भुवनेश्वर की सबसे समर्थ चर्चित और प्रयोगशील कहानी है, जिसका प्रकाशन अप्रैल 1938 में 'हंस' में हुआ। इधर वर्षों बाद इस कहानी को पुनः 'हंस' में प्रकाशित कर उससे नयी बहस उठायी गयी और हिन्दी कहानी में भुवनेश्वर की इस कहानी की विषयवस्तु की ताक़त, इसकी भाषा, शिल्प पर, इसमें लेखक की गतिशीलता, सर्जनात्मकता और बेसरोकारी पर बहस उठायी गयी और भुवनेश्वर का पुनर्मूल्यांकन हुआ। औरत पूँजीवादी समाज में किस प्रकार मात्र एक वस्तु बनकर रह गयी है—इसे इतनी निर्ममता से भुवनेश्वर खोलते हैं कि स्तब्ध रह जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी कई ऐसी भी कहानियाँ हैं, जो उपलब्ध नहीं हैं। कई कहानियाँ आकाशवाणी, लखनऊ से प्रसारित हुई थीं। इनके विषय में भुवनेश्वर के मित्र कृष्णनारायण कक्कड़ का कहना है कि—

> "सन् 1946 से 1948-49 तक मुझे स्मरण है कि भुवनेश्वर की कई कहानियाँ लखनऊ आकाशवाणी से प्रसारित हुई थीं। लाख औपचारिक या अनौपचारिक प्रयत्नों के बाद भी ये कहानियाँ आकाशवाणी ने नहीं दीं और उसका उत्तर सीधा है : इतनी पुरानी रचनाएँ हम नहीं रखते। स्मरण रहे, भुवनेश्वर उस समय तक स्थापित लेखक हो चुके थे। वे कहानियाँ ऐसी हैं कि यदि प्रकाशित हो जाएँ, तो लोगों को कुछ नहीं तो कम-से-कम भुवनेश्वर की प्रतिभा को लेकर एक नया अचरज होगा।"

('दिनमान', 25 मई 1975, पृ. 41)

दरअसल हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार गिरिजाकुमार माथुर उस समय आकाशवाणी में कार्यक्रम अधिशासी थे। वे भुवनेश्वर से कई कहानियाँ, लेख, नाटक लिखवाते रहे। उनसे हिन्दी के गीतों का संग्रह भी करवाया। अगर वे कहानियाँ मिलतीं, तो निश्चय ही भुवनेश्वर के कहानीकार व्यक्तित्व का और हिन्दी साहित्य

में उनकी विलक्षण प्रतिभा का पता चलता। शमशेर बहादुर सिंह ने उन्हें हिन्दी का पहला 'वाल्डियन विट' कहा है। स्वयं कथाकार प्रेमचन्द ने भी लिखा है—

> "भुवनेश्वर जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति है, गर्भ को हिला देने की वाक्य चातुरी है। काश वह इसका उपयोग 'एक साम्यहीन : साम्यवादी' जैसी रचनाओं में करते। आस्कर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वह उसके दुर्गुणों को नहीं छोड़ सकते?"
>
> प्रेमचन्द, *विविध प्रसंग*, पृ. 374-375

भुवनेश्वर की कहानियों में उनकी रचनात्मक सम्भावनाओं को प्रेमचन्द ने पहचान लिया था। वे चाहते थे कि भुवनेश्वर 'हंस' के लिए काम करें, पर वे स्वतन्त्र वृत्ति के लेखक थे।

उपुर्यक्त सभी कहानियों में भुवनेश्वर ने मध्य वर्ग का संघर्ष और तनाव मुख्यतः लिया है, जिसके बीच आदमी विवश है और उसकी उस विवश, त्रासद स्थिति के प्रति लेखक बहुत संवेदनशील, ईमानदार और गम्भीर। वे इन कहानियों में निम्न मध्यवर्ग की विडम्बनाओं और, मूल्यों के खोखलेपन को व्यक्त करते हैं। 'मास्टरनी' और 'मौसी' कहानियों को अगर हम परम्परागत ढंग से देखें, तो ये चरित्र-प्रधान कहानियाँ लगेंगी, पर भुवनेश्वर के ये चरित्र अपनी चारित्रिक सीमाओं से आगे निकलकर जीवन की विसंगतियों की बड़ी सूक्ष्म अभिव्यक्ति करते हैं। वे उन्हें चरित्र भी रहने देते हैं, हस्तक्षेप भी नहीं करते और संवेदना एवं स्थितियों को विस्तार भी देते हैं। 'मास्टरनी' कहानी में एक कठिन, गम्भीर अधेड़ ईसाई औरत केन्द्र में है। गाँव में रहते हुए भी गाँव से अलग। स्त्रियाँ उससे डरती थीं और मर्द उसको एक मर्दानी अवज्ञा से देखते थे। चारों ओर सन्नाटा और धुंध, अकेलापन और उसके बीच मास्टरनी। बहुत ही मार्मिक और जटिल कहानी है--दो विरोधी भाव ...प्रेम-घृणा, तृष्णा...वितृष्णा को वे इस तरह संश्लिष्ट करके रख देते हैं और सारी जीवन की विडम्बनाओं को, विरोधों को एक साथ रच देते हैं—

> "मास्टरनी एकाएक बीच कमरे में खड़ी हो गयी 'सुनो यह पाँच रुपये हैं और यह मुरली का स्टाकिंग और वह ममी का सिंगारदान। और कहना कि कोई मुझसे और कुछ न माँगे। सब मर जाएँ, गिरजे में जा पड़ें। मैं—मैं कहती हूँ वे गिरजे में जा पड़ें, मिशन में मरें।...मेरे पास कुछ नहीं है...कुछ नहीं है। तुम मेरा घर झाड़ लो।...मैं ही क्यों...तुमसे मुझे कोई सरोकार नहीं। मैं जैसे ज़िन्दा दफ़ना दी गयी हूँ। पर मुझे क़ब्र की शान्ति तो दे दी।"

उक्त कहानी बड़ा मार्मिक मोड़ लेती है। कहीं भी भावात्मकता नहीं है, न नकारात्मक स्वर, नाराज़गी है उस मजबूर होकर जीने में। जीने की यह मजबूरी और उसका सघन चित्रण ही कहानी को सशक्त बनाता है—सब कुछ मास्टरनी, टूटू के

भोगे हुए अनुभव के साथ आया है और एक भी बेकार शब्द नहीं। ये सब 'अन्तर्निहित' नहीं है, उस पात्र का 'अन्तर्मुक्त स्वर' है और कहानीकार उसी के द्वारा बहुत सारी व्यंजनाएँ कर लाता है। 'मौसी' कहानी में भी मध्यवर्ग का आर्थिक संकट है, पुराने संस्कारों, रूढ़ियों की जकड़न है, जिनके विरुद्ध मौसी प्रतिक्षण विद्रोह करती जाती है। बिब्बो का मार्मिक शब्दों में चित्रण लेखक करता है। थे विवरण विस्तृत हैं, बहुत संवेदनशील हैं। "मुहल्लेवाले उसे सदैव वृद्धा ही जानते, मानों वह अनन्त के गर्भ में वृद्धा ही उत्पन्न होकर एक अनन्त अचिन्त्य काल के लिए अमर हो गयी थी....।" भुवनेश्वर ने भतीजे वसन्त के पिता के योग से कहानी को अनेकस्तरीय और व्यंजनात्मक बनाया है। कहानी वसन्त के पिता से बिब्बो के सम्बन्ध का संकेत करती है। एक तरह की लाचारी पर मनुष्यताविहीन और निर्मम अकेलापन यहाँ है। सम्बन्धों में स्वार्थ और राग दोनों एक साथ हैं। बिब्बो में वह मानवीय राग है। पर वसन्त और पत्नी में नितान्त आज की व्यावहारिक, निष्ठुर दुनिया है। कहानी का अन्त उसकी दारुण मृत्यु पर है। भुवनेश्वर उस मृत बिब्बो में जीवित मनुष्य से अधिक मानवीयता देखते हैं। सम्बन्धहीनता, ठण्डापन, संवेदनहीनता, अवसरवादिता पर भुवनेश्वर तिलमिलानेवाला कटाक्ष एवं प्रहार करते हैं, वह भी झटके से और संकेतों में। वे स्वयं कुछ नहीं कहते, कोई टिप्पणी नहीं करते। वे पाठक को बराबर अपने साथ लेकर चलते हैं—वे उसे स्वयं समझने, कहानी की जटिलता को खोलने में प्रवृत्त करते हैं। स्वयं उनका तीखा व्यक्तित्व कहानी को एक नया फार्म, नया अन्दाज़ देता है।

'हाय रे मानव हृदय' कहानी उतनी लघु और सीधी नहीं है। यह कहानी फ़ैंटेसी, रहस्य-रोमांच से रची हुई है—'वह देखिये, ईंट की मेम आ ही गयी।' लगता है, यह एक जासूसी कहानी का प्लाट हो। पूरी कहानी में कौतूहल है, गत्यात्मकता है, उन्माद, अकेलेपन की त्रासदी है। कहानी में ईंट की मेम का प्रतीक है, जो संवेदनहीनता को अनुभूत करा देता है। कहानी आकस्मिक झटके का सार्थक उपयोग करती है और सारी परिस्थिति, सारा वातावरण सहसा बदल जाता है—इतिहास, फ़ैंटेसी कविता सब गुडमड्ड होते दीखते हैं। बिलकुल इसके विपरीत 'लड़ाई' कहानी एक रेल के डिब्बे में घटित स्थितियों की, व्यंजनाओं की कहानी है। ट्रेन के डिब्बे में एक खद्दरपोश, पत्नी, एक स्टुडेण्ट, सोल्जर के रेखाचित्र, उनकी बातें, उनकी क्रियाएँ—जम्भाई, चुटकी, सिगरेट, बड़बड़ाहट, ऊँघ, खाँसी—सब मिलकर उस मूल्यहीनता और निस्सारता के लिए संकेत करते हैं, जिसके लिए दरअसल हमारे मन लड़ रहे हैं। बस खोखलापन है, भयावह खोखलापन और हमारी बाहरी-अन्दरूनी विसंगतियाँ। उनकी हर कहानी में मजबूर स्थितियों की तिलमिलाहट, कड़ुवाहट है। अक्सर भुवनेश्वर बहुत ही कलात्मक पकड़ से, स्थितियों से कहानी को नयी शैली, अनूठा शिल्प देते हैं। वह कहानी में एक-एक क्षण को अनुभूत कराते हैं पाठक

को—अपने शब्दों से नहीं, पात्रों की क्रियाओं, मनःस्थितियों से। वे कहानी में कथानक का ऐसा बीज डाल देते हैं, जिसके अर्थ, व्यंजनाएँ और रचनात्मक सम्भावनाएँ अंकुरित होती जाती हैं। एक खद्दरपोश के प्रति भुवनेश्वर का व्यंग, घृणा और वितृष्णा से भरा है। यह आज के आदमी की कहानी लगती है। इसमें भुवनेश्वर का इतने वर्ष पूर्व मोहभंग अचरज में डालता है। 'माँ-बेटे' (1936) कहानी में यद्यपि पुरानापन दीखता है और वर्णनात्मकता भी है, पर उसमें गद्य की भाषा और संरचना का विकास है—एक अन्तर्दृष्टि मिलती है मृत्यु को लेकर, मृत्यु और आदमी के भीतर की अनुभूति बड़े प्रभावी ढंग से आयी है—बड़े ही संयमित रूप में, कोई उद्वेग नहीं। लेखक केवल बताता है—"उसने मुश्किल से अपने कमज़ोर हाथ उठाये और एक प्रेत के स्पर्श की तरह वह उसकी पीठ को सहलाने लगी। सारा संग्राम ख़त्म हो चुका था, सिर्फ़ उसके कमज़ोर मरते हुए हाथ एक अन्दर की प्रेरणा से पीठ पर घिसटते रहे और फिर धीरे-धीरे मर गये।" कथा का यह गद्य आज के गद्य-विकास का परिचायक है, जो बिना किसी विशेषण, बिना किसी रोने-धोने के मानसिक जगत् को, मरते हुए को अभिव्यक्त करा देता है।

'सूर्यपूजा' और 'भेड़िये' कहानियों से भुवनेश्वर की कथ्य और शिल्प की अद्वितीय सर्जनात्मकता सामने आती है—वह भी उसी दौर में। ये कहानियाँ और *ताँबे के कीड़े* नाटक समूचे हिन्दी साहित्य की धारा, प्रकृति और इतिहास ही बदल देने की शक्ति रखती हैं। बहुत ही आश्चर्यजनक है कि ऐसी कहानियों की मौलिकता और ताज़गी के होते हुए भी कहानीकार के रूप में उनकी कोई गणना, आलोचना ही नहीं हुई। 'सूर्यपूजा' समकालीन द्वन्द्व की कहानी है, उसे हम मृत्युबोध की कहानी, ऊब, कुण्ठा, संत्रास की कहानी कह सकते हैं। कहाँ उस समय इस प्रकार की कथा-रचना, उसके स्वभाव और गद्य की कल्पना की जा सकती थी? शुरू से भुवनेश्वर को कुछ ज़्यादा बताने-समझाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। कहानी सीधे इस तरह आरम्भ होती है—

अँधेरी घुप गलियों में हवा लपटों की तरह ऊँचे सीले मकानों से टकराकर एक-रस हिंसक आवाज़ करती हुई भर-भर आती थी। (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 230)

एक मोटा भद्दा डाक्टर है और दुबला रोगी-सा विद्यार्थी है—"डॉक्टर तुम मुर्दा हो, बिलकुल मरे हुए, उससे ज़्यादा कुछ भी तो नहीं तुम जानते हो, तुम मुर्दा हो ...यह तो नरक है डॉक्टर, नरक—यह मुर्दों की बस्ती है। यह भरा-पूरा शहर मुर्दों की बस्ती है—यह शहर है ही नहीं, यह कोई प्रेत है! डॉक्टर, क्या यह मुमकिन है कि मनहूस शहर में हज़ारों-हज़ारों आदमी सिर्फ़ खाने-पीने और सोने के लिए ही ज़िन्दा हैं। अँधेरा, कीचड़, आँधी, बारिश चारों तरफ़ देखो कहीं जीवन का हल्का-सा इशारा है? यह पूरे-पूरे एक जैसे मनुष्य, ये उतनी डुप्लीकेट कापियाँ आख़िर क्यों हैं? वही क्लर्क, दलाल, अफ़सर, दुकानदार! हम सब ज़िन्दा होते हुए भी एक लाश

की तरह धीरे-धीरे गल रहे हैं। एक कान्स्पीरेसी, गन्दी आबोहवा। विद्यार्थी के पास पैसा नहीं है।"

स्वयं भुवनेश्वर के अनुभव, उनका व्यक्तित्व और आन्तरिक पीड़ा, यातना भी सामने आती है—अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन भी मुखर होता है, जो हिन्दी में आया ही नहीं था। यह भी बेहद अमानवीय अनुभव है कि सब कुछ ख़ाली है, हम ज़िन्दा नहीं हैं। छोटी-सी कहानी के संवादों में, मौत का, संवेदना की भौत का तनाव भरा पड़ा है। कहानी में डॉक्टर और विद्यार्थी के बस संवाद हैं और क्रियाएँ हैं। कहीं से कोई कथानक, कोई घटना नहीं आती, न लेखक का निजी कुछ, पर कहानी हिला डालती है। धीरे-धीरे तनावपूर्ण कहानी एक फैंटेसी में बदल जाती है। दोनों को लगता है कि वे यह दुनिया त्याग दें, पर डाक्टर सुबकता है और वह विद्यार्थी अचानक कहता है कि वह दुनिया को बहुत प्यार करता है, वह कैसे छोड़ेगा? उन्हें लगता है, उन्हें जीना है, एक आशा है कि हम लोग फिर जल उठेंगे। दूर सामने म्यूनिसपैलिटी की लाल धुँएँदार लालटेन जलने पर विद्यार्थी चिल्ला उठता है कि वह रही नयी दुनिया की रोशनी, जिसके लिए हम जीएँगे। वह सूर्यपूजा की मुद्रा में खड़ा होता है और डॉक्टर बेहद ऊबे हुए बच्चे की तरह सुबकता रहता है। यह त्रासदी हिलाती है भीतर तक। यहाँ हमें बार-बार भुवनेश्वर नज़र आते हैं, उनका युग नज़र आता है, उनके आगे का भी। उनकी कहानी बने-बनाये फ़ार्म को तोड़ रही है, इसीलिए उस समय सम्पादक को उसमें स्केच जैसा लगा, न कथा, न कथातत्त्व, न कोई घटना न और कुछ'। यह फ़ार्म को समझने की ज़रूर महसूस कराती है। ऊब, मौत, संत्रास के बीच भी जो जिजीविषा कहानी के पात्र में है, वे महत्त्वपूर्ण है, उसके दर्द में जो भुवनेश्वर का अपना दर्द है और उनका सजग गद्य शिल्पी रूप भी है, वह बड़ी कुशलता से कहानी को बहुत मार्मिक बना देते हैं—ख़ासकर यह कहानी तो अपने लघु कलेवर में मनुष्यता की खोज है।

भुवनेश्वर की कहानी प्रयोगवाद, आधुनिकतावाद और अस्तित्ववाद को सामने नहीं रखती। जिन स्थितियों से, प्रश्नों से और इतिहास-सन्दर्भों से वे स्वयं जूझ रहे थे, वे प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इस कहानी में स्वयं उनकी, मनुष्य की टूटन की स्थिति का पता चलता है। पुरानी बँधी-बँधायी परिपाटी पर भुवनेश्वर को खीझ है। 'भूत', 'भविष्य', 'वर्तमान' का काल बन्धन उन्हें हास्यास्पद लगता है। 'कछुए के समान सब कुछ अपने में समेटे वर्तमान कितना शीतल और कठोर है...उसका, स्त्री का शरीर, उसका नाम, उसका हररूपेण सुरक्षित होना देखें और खीज उठें। पर खीज क्यों उठें? आख़िर क्यों? क्या खीज जाना इतना अन्तिम ह? क्या उसके बिना ट्रेजेडी बरबस एक असुन्दरता से खिलखिला उठेगी? 'एक रात' कहानी में भुवनेश्वर के ये शब्द उनकी मानसिक स्थिति और बौद्धिकता को सामने लाते हैं। पति प्रेमा ओर केशव के चरित्रों से रची यह कहानी स्त्री-पुरुप, पति-पत्नी, विवाह, प्रेम पर घिसे-पीटे

सवाल नहीं उठाती, बल्कि स्त्री को भिन्न और स्वतन्त्र दृष्टि से देखती है। प्रेमा उस अर्थ में कहानियों की चली आती नारी से अलग है, वह औरों से अलग है इसलिए असाधारण है। पति रेलवे में ऑफ़िसर हैं—अगर वह सम्बन्ध भुलाकर आनन्द मना सकते हैं, तो प्रेमा भी अपने स्वादहीन, रंगहीन जीवन से कुछ निकालने के प्रयास में लग जाती है। सम्बन्ध किस तरह मानसिक, शारीरिक स्तर पर बनते हैं, उसका चित्रण भी भुवनेश्वर बिलकुल भिन्न स्तर पर, अलग भाषा में करते हैं। कहानी का अन्त जिस तरह पाँच वर्ष बाद एक रात केशव के आने पर, सुबह होने पर होता है—केशव चला गया है— पत्र छोड़ गया है, भारी-सा नीला लिफ़ाफ़ा। बार-बार प्रेमा ने उसे उलटा-पुलटा और वैसा ही सन्दूक़ में रख दिया। पति के आने पर जिस तरह दोनों निस्संग हैं और पति की कोशिश आम पुरुषों जैसी है—दोनों को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। प्रेमा उसे सच्चाई बताती है कि 'हाँ' मैं उसे रात भर स्वप्न में देखती रही, जैसे वह मर गया हो। कहानीकार भुवनेश्वर स्त्री प्रेमा में जागी 'अज्ञात रस की प्यास' और आत्मा की उड़स की बात कहते हैं—पर यथार्थ वह नहीं है, जो वह चाहती है। 'तृप्ति, भारहीन आत्मा, शून्य पे उड़ान'—यह तो कविता है, इस तरह 'एक रात' अलग प्रकार का अनुभव है—सम्बन्धों का और कहानी के रचाव का।

'भेड़िये' कहानी में पूरे हिन्दी गद्य-साहित्य को एकदम नया मोड़ देने की शक्ति है। यह कहानी अपनी कथावस्तु और कथा-शिल्प में एक क्रान्तिकारी रचना है। 'भेड़िये' प्रतीकात्मक और सांकेतिक, तेज़ कहानी है, पर उसके प्रतीक उस समय के स्थूल प्रतीक नहीं हैं। प्रतीक को इतना विस्तार इतनी सघनता और संश्लिष्टता देने की क्षमता भुवनेश्वर में है कि कहानी वहुत दूर तक इनवॉल्व करती है, चौंकाती है और चरित्रों की अचानक विडम्बनाओं को, उस भयावहता में जीने की पीड़ा को उजागर करती है। 'भेड़िये' में प्रतीक है, शिल्प की तराश है, पर मूल है उसकी सम्वेदना। उसकी संरचना, उसकी भाषा, फ़ार्म सब उस संवेदना के अनुरूप ही स्वतः रचते गये हैं। 'भेड़िये' में प्रतीक और कथ्य, शिल्प और वस्तु, एक-दूसरे में नितान्त घुले-मिले हुए हैं। प्रायः अपनी कहानियों में भुवनेश्वर ने अपने रचनाकार के अनुभव कहने के लिए या उस कहानी की मूल संवेदना और समकालीन यथार्थ को व्यक्त करने के लिए चरित्रों में स्त्री को मुख्यतः चुना है। सामान्यतः स्त्रियों के प्रति एक भावुक, रोमानी तरीक़ा रहा हैं, पर इस कहानी में भयानक तटस्थता है--लेखन ने समाज के निर्मम सत्य को, उतनी ही तीव्रता और निर्ममता से उघाड़ा है। कहानी प्रत्यक्ष इस तरह शुरू होती है—'भेड़िया क्या है'—खारू बंजारे ने कहा—"मैं अकेला पनेठी से एक भेड़िया मार सकता हूँ।" खारू, सत्तर के आस-पास की उम्र की ग़रीबी के बाद भी चारों ओर अपनी दुरूह, दुर्भेद्य कठिनता से घिरा था। ठण्डी और जमी हुई आँखें, घनी सफ़ेद मूँछों के नीचे मुँह उतना ही अमानुषीय और निर्दय था जितना एक चूहेदान।' ऊसर और भयानक सत्य को भी खारू निर्दयता से बताता है। 'जीवन

से वह निपटारा कर चुका था, मौत उसे नहीं चाहती थी, पर तब भी वह समय के मुँह पर थूककर जीवित था। तुम्हारी भली या बुरी राय की परवाह किये बिना भी। लेखक के अनुसार कहानी खारू द्वारा कही जाती है–एक-एक लफ़्ज उस कहानी का सच है। खारू किसी चीज़ से नहीं डरता, सिवा भेड़िये के। बला का चालाक और बहादुर जानवर, तेज़ दौड़नेवाला पशु। पूरी कहानी फिर कहानी सुनने-कहने के, कथा के लोकगत रूप में शुरू होती है। बंजारों की निर्ममता, तेज़ गति और तेवर, उनके अपने विश्वास, कार्य। दृश्य-श्रव्य बिम्ब का जो वातावरण बनता है, वह तो आगे की आंचलिक कहानियों में भी नहीं था–उनमें एक प्रकार का रोमानीपन था, भावुकता थी, संगीत था, ध्वनियाँ थीं–अन्तर और बाह्य जगत था–यहाँ तो सचमुच भयानक सत्य एकदम सामने है और उसका उसी क्षण, उसी समय सामना करने की निर्मम स्थिति है। दूर से आती आवाज़–'हा आ आ आ आ आ!' भेड़ियों की इस बहुत धीमी आवाज़ से भी, केवल भेड़ियों की बू से पहचाननेवाले बैल किस प्रकार भाग पड़े। एक पूरा गतिशील दृश्य जगत कहानी की तरह नहीं, फ़िल्म की तरह दृश्यात्मक होता जाता है। नज़दीक आते भेड़िये और पागल भागते बैल, नटों जैसी कलाबाज़ी-खारू के बाप की बन्दूक़–'धाँय-धाँय!' तीर गोलियाँ! भेड़िये और बढ़ते हैं। सामान हल्का करके गड्ढा हल्का किया जाता है–फूल-सा हल्का फिर 'एक बैल खोल दी' और फिर बूढ़ा कहता है–"अब एक नटनिया फेंक दो।" मोटी नटनिया फेंक दी गयी–ग्वालियर की नटनिया। वह एक भेड़िये का मुक़ाबला करती है–'एकदम नज़र से ओझल हो गयी' जैसे किसी कुएँ में गिर पड़ी हो। फिर दूसरी औरत को फेंका जाता है–"भीख माँग के खाना बंजारों का दीन है, हम रईस बनने चले थे–" अन्त में तीसरा बैल भी खोला जाता है। मौत का मुक़ाबला भी करना है और किसी एक को जीवित भी रहना चाहिए। बूढ़ा बाप दोनों हाथों में छुरियाँ लेकर, कूदने को होता है पर अचानक उसे याद आता है–"मैं नये जूते पहने हूँ, मैं इन्हें दस साल पहनता, पर देखो, तुम इन्हें मत पहनना, मरे हुए आदमियों के जूते नहीं पहने जाते, तुम इन्हें बेच देना" और फिर वह भेड़ियों के बीच कूद पड़ा। केवल खारू किसी तरह बच गया।

कहानी कहना यहीं पर समाप्त होता है। खारू मेरे डरे हुए चेहरे को देखकर ज़ोर से हँसा और फिर खखारकर उसने ज़मीन पर बहुत-सा थूक दिया है–यह समय के मुँह पर उसका थूकना है और जीवित रहने का संघर्ष–संकल्प है। खारू कहता है–'मैंने दूसरे ही साल उनमें से साठ भेड़िये और मारे'–और खारू फिर हँसता है और आँखों में एक अनहोनी कठिनता लिये भूखा, नंगा उठकर सीधा खड़ा हो जाता है। कहानी में जिस जिजीविषा को बचाकर रक्खा गया है सारी भयावह और निर्ममता के बीच और जिस तरह मृत्यु और जीवन एक अनुभूत सत्य की तरह साथ-साथ दौड़ते हैं कहानी के साथ, वह तो स्वयं खारू का और कहानीकार भुवनेश्वर का 'ठोस

तरीक़ा' और 'गहरी बेसरोकारी' है—उसका अप्रतिम उदाहारण है। जिस सच्चाई और निर्ममता, जिस प्रत्यक्ष अनुभव और कहानी कहने की शैली, जिस सम्बन्धशीलता और सम्बन्धहीनता, जिस ममत्व और निर्मम तटस्थता का, 'प्राण' की चिन्ता, संकट और जीवन-संघर्ष का इतनी ईमानदारी से जिया हुआ अनुभव इस कहानी में सामने आता है, वह तो समूचे विश्व साहित्य की अप्रतिम रचना का उदाहरण है। ज़िन्दगी की सामने ही दीखती वास्तविकता और अमानवीयता पर उसके बीच भी एक दुख का, रिश्ते का एहसास विलक्षण रचना-प्रतिभा है। कहानी का एक भी क्षण व्यर्थ नहीं—एक भी शब्द निरर्थक नहीं! एक क्षण बचने का एहसास और फिर तुरन्त घिर जाने का और तत्काल निर्णय और कार्य, लगता ही नहीं कि कहानी लिखी जा रही है—कही भी जा रही है और होती हुई भी महसूस हो रही है। इस घनी संवेदना ने, इस निर्मम तटस्थता ने, इस संश्लिष्टता ने तो हिन्दी साहित्य में जन्म ही नहीं लिया था। आज भी कहानी तो क्या, ऐसी विलक्षण रचना विरल ही है। 'भेड़िये' की समीक्षा, उसकी चर्चा *राम की शक्तिपूजा, अंधायुग, अँधेरे में, गोदान* से भी सक्षम और आगे की रचना के रूप में होनी चाहिए थी। इस कहानी के सामने न मनोविश्लेषणवाद कुछ है, न यथार्थवाद, न प्रगतिवाद और न आंचलिक कथा। अगर इस कहानी का मूल्यांकन सही समय पर सही ढंग से हुआ होता, तो शायद हिन्दी कहानी का इतिहास, उसका स्वरूप और शिल्प कुछ और ही हुआ होता। ऐसी सशक्त रचना अनदेखी पड़ी रही और कहानी को वर्षों तक वर्गीकरणों के आधार पर मूल्यांकित किया जाता रहा। 'भेड़िये' कहानी किसी वर्गीकरण में नहीं बाँधी जा सकती। यह एक जीनियस कहानीकार की विलक्षण रचना है।

पिछले पचास वर्षों में हिन्दी कहानी पर बहुत अधिक लिखा गया है और नयी कहानी के साथ अकहानी, चेतन, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी आदि विभाजन होते रहे हैं और उन पर बहस होती रही है। जिस तरह ताँबे के कीड़े समय से पहले का, समय से आगे का नाटक है, उसी तरह 'भेड़िये' समय से आगे की कहानी है और बहुत पहले लिखी गयी वह कहानी है, जहाँ तक हमारी आलोचना पहुँच ही नहीं पायी। 'भेड़िये' चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' कहानी की तरह, भुवनेश्वर को अमर कर देने के लिए पर्याप्त सक्षम रचना है।

भुवनेश्वर सजग, कुशल और संश्लिष्ट कथा-शिल्पी हैं। 'भेड़िये' इस माने में बहुत सारी कहानियों से बिलकुल भिन्न प्रकार की कहानी है। उसके शिल्प को टुकड़ों में अलग नहीं कर सकते—वह उस संवेदना का, अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है। गद्य का तो संरचनात्मक वैशिष्ट्य देखने को मिलता है। प्रसिद्ध कवि-आलोचक-नाटककार लक्ष्मीकान्त वर्मा का कथन है,

"इन तीनों कहानियों के विश्लेषण से हमें भुवनेश्वर के कथा-शिल्प का ऐसा

परिचय मिलता है कि कथा पढ़ी या समझी नहीं जाती, बल्कि अनुभव की जाती है। किसी भी कथा का कथानक अपने बीज रूप में अनन्त सम्भावनाएँ लिये होता है, किन्तु कहानी का अर्थ उस बीज रूप कथा को पुराण बनाने के बजाय भावात्मक द्वन्द्वों को एक कविता को कैसे जन्म देता है, यह भुवनेश्वर की कहानियों को पढ़ने से स्पष्ट होता है।"

(*भुवनेश्वर : वह और उनका साहित्य*, पृ. 36)

भुवनेश्वर का अपनी कहानी पर, कथा-शिल्प पर अद्‌भुत अधिकार है। उन्हें मालूम है कि वे 'कहानी' लिख रहे हैं, उपन्यास या नाटक नहीं। उनका अपने विषय पर भी अधिकार है, अनुशासन है और अपनी विधा और उस विधा की प्रकृति और माँग पर भी पूरा अनुशासन है। इसी अर्थ में वे जागरूक गद्यशिल्पी हैं। जब वे कोई चरित्र पकड़ते हैं, तो वह चरित्र पूरी तरह उनकी पकड़ में होता है—बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के। जो कहानीकार के रूप में वे कहना या पाठक को अनुभव कराना चाहते हैं, वे उनके चरित्र करते हैं। न लेखक व्यर्थ शब्द-व्यय करता है, न चरित्र, पर इतना तनाव, इतनी संघर्ष-गति, इतनी सघनता और चुस्ती होती है कि अर्थ की सम्पूर्णता, गहनता बनती है। इस माने में मौसी, मास्टरनी, खारू, यादगार चरित्र हैं। उनकी किसी भी कहानी में न बहुत घटनाएँ होती हैं, न बहुत से चरित्र, लेकिन उस कहानी का, आज के समय का, मनुष्य और समाज का पूरा चरित्र उभरकर आता है, हमें झकझोर डालता है और उस स्थिति में फिर आज की स्थितियों, विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से वह चरित्र ही लगातार हस्तक्षेप करता दीखता है। खारू एक तमाचा है। उसकी हँसी, उसका थूकना कहानी की सबसे महत्त्वपूर्ण गूँज है। जो निराला की *नये पत्ते* की कई कविताओं की याद दिला देता है—'झींगुर डटकर बोला', 'डिप्टी साहब आये' आदि। उनसे भी ज़्यादा तेज़ और संश्लिष्ट कहानी है 'भेड़िये'। उसमें कुछ भी सोचा गया, विधान जैसा नहीं है। कथानक चरित्र से ही है और चरित्र के सामने है आकस्मिक परिस्थिति के क्षण पर क्षण। लगातार एक आक्रामक स्थिति, असुरक्षा का आंतक और लगातार सुरक्षा की भयंकर कोशिश। ताक़तें किस तरह आदमी को खा जा रही हैं, चबा जा रही हैं, निगल जा रही हैं—इस हालत को लेखक बड़ी बेरहमी से, सहसा, झटकों से दिखाता है। यह भुवनेश्वर का नाटककार है, जो स्वतः कहानी में उसकी संश्लिष्टता, रिद्म और कार्य आने देता है। आतंक-रोमांच दोनों प्रभावित करते हैं। असहजता नहीं आती, बल्कि कहानीकार का कौशल, उसकी प्रतिभा चकित करती है। कुछ भी परिभाषित-सा या पूर्व निर्धारित-सा नहीं लगता। सब कुछ इतना अन्तर्मुक्त होता है और इतनी परतें हैं—वह भी इधर-उधर बराबर घूमते-फिरते बनजारों का बंजर लेकिन ताक़तवर लोकजीवन। ये धरती के जीव हैं—मनुष्य हैं, पर कायर नहीं हैं। मानवीय भाव उनके पास भी हैं, पर वे हर पल स्थिति का, भयावह स्थिति का सामना

करते हैं, मुत्यु के विरुद्ध लड़ते हैं, मृत्यु को एकदम अपने सामने देखते हैं।

छोटी-छोटी कहानियाँ हैं सभी, पर वे लघु कथा नहीं हैं, वे छोटे आकार में अत्यन्त समृद्ध, बहुस्तरीय कहानियाँ हैं। सामान्यतः हमारे यहाँ कहानी में स्त्री के प्रति इतना भावविहीन, तटस्थ रूप नहीं है, जितना 'भेड़िये' में। हज़ारों भेड़ियों से ज़िन्दगी के लिए लड़ना है, तो उस गड्ढे को हल्का करना था, जिसमें सामान है, तीन नटनियाँ हैं। हल्का करना है, तो वे भी सामान की तरह फेंकी जाती हैं—गड्ढे के बाहर झुलाकर फेंक दी जाती हैं। समकालीन व्यंग्य, भेड़िया मानसिकता और मुक्ति की कोशिश का, आधुनिकता, मनुष्य की यन्त्रणा का जिस बनजारी लोकसंस्कृति की प्राणशक्ति का चित्रण भुवनेश्वर ने किया है, वह प्रगतिवादी खेमे और आम आदमी की दुनिया के मुहावरे में सिमटनेवाली चीज़ नहीं है, उससे बहुत ऊपर है। इसीलिए यह कहानी आज भी हिन्दी में अकेली और अद्वितीय कहानी है। यह कहानी भुवनेश्वर से एक नया इतिहास गढ़े जाने का अप्रतिम उदाहरण है। भुवनेश्वर की गद्य-शक्ति को उनकी कहानियाँ प्रमाणित करती हैं। किसी कहानी को हम 'प्रतीकात्मक कहानी', 'यथार्थवादी कहानी' या 'स्केच' के खाँचे में नहीं ढाल सकते हैं। उस अर्थ में भुवनेश्वर ने कहानी के पुराने ढाँचे को तोड़ा है और कहानी को नया, शक्तिशाली फ़ार्म दिया है, जहाँ पाठक उनके साथ कहानी के साथ बराबर वैसे ही है, जैसे नाटक में रंगशाला में बैठा दर्शक नाटक के साथ। भुवनेश्वर स्वयं पाठक को बाधित नहीं करते। लेखक की अपनी रचना में यह अनुपस्थिति महत्त्वपूर्ण है और उसकी प्रामाणिकता को बढ़ाती है। भुवनेश्वर को 'एब्सट्रैक्ट' रचनाकार कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। जब तक वे पढ़े नहीं गये थे और उनकी जीनियस प्रतिभा को पहचाना-समझा नहीं गया था, तब तक वे 'एब्सट्रैक्ट' लगे। उनकी कोई कहानी 'एब्सट्रैक्ट' नहीं है। रमेश बक्षी कहते हैं—

> "वह कभी झूठ नहीं बोलता था और सत्य से दिखला देता था कि सत्य भी कितना भयानक और ऊसर हो सकता है। भेड़िये से।...मेरा अपना अन्तिम वाक्य यह है कि भुवनेश्वर कहानीकार पहले थे, नाटककार बाद में।"

# 6

# भुवनेश्वर : आलोचना और प्रतिक्रियाएँ

भुवनेश्वर आलोचक नहीं हैं। जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनके आधार पर उन्हें आलोचक मानना सम्भव नहीं लगता, पर उनसे उनकी आलोचना-शक्ति को समझा जा सकता है। उनका गम्भीर विवेचन, उसे कहने की क्षमता उनकी लगातार कुछ खोजती मौलिक दृष्टि, भाषा और गद्य पर उनका अधिकार द्रष्टव्य है। लीक से हटकर—और समय से आगे लिखनेवाले भुवनेश्वर को समझनेवाले कम थे, इसलिए उनकी साफ़गोई और आलोचना कोई सहन भी नहीं कर पाता था। उनके स्वभाव के कारण भी उस समय और बाद में उनकी आलोचना बहुत गम्भीरता से नहीं ली गयी।

भुवनेश्वर को अंग्रेज़ी कविता की तरह उर्दू कविता का भी बहुत अच्छा ज्ञान है। उनकी प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत एक प्रतिक्रिया उर्दू के सशक्त शायर शब्बीर हसन 'जोश' के व्यक्तित्व और कविता पर है। उर्दू के इस क्रान्तिकारी कवि से भुवनेश्वर का अच्छा सम्पर्क था। उनसे प्रभावित होकर भुवनेश्वर ने अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया जिन शब्दों में व्यक्त की है, वह उनके संवेदनशील रचनाकार, उनकी पकड़, व्यापक चिन्तन और अभिव्यक्ति-क्षमता का प्रतीक है। उसमें एक प्रकार से 'जोश' का रेखाचित्र-सा है, अर्थात वह एक 'शब्दचित्र' की तरह भी खुलता जाता है और साहित्यिक मूल्यों और स्वयं आलोचना-प्रतिमानों की तरह भी। जोश के परिवार, अवध की संस्कृति, घर के नवाबी वातावरण, उसके बीच शायरी के बारे में भुवनेश्वर बड़ी बेतक़ल्लुफ़ी और अपनेपन से बताते हैं। इस चित्र में उनका अन्दाज़ कहानी कहने का-सा है और कहानी की तरह ही वे पाठक को अपने साथ-साथ लेते चलते हैं और प्रश्न करते हैं—"तो जोश के कवित्व के उद्गम की खोज कहाँ की जाए? 'जोश' अंग्रेज़ी कविता और साहित्य से अछूता है, इतनी अंग्रेज़ी कभी जानी ही नहीं। ...उसके प्रिय कवि हैं हज़ार साल पुराने कवि 'कावी' और 'फ़िरदौसी'।...फ़िरदौसी ईरान का हेलर है।" (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 279) फ़िरदौसी के *शाहनामा* को भुवनेश्वर भारत का वेद मानते हैं। जोश और फ़िरदौसी को एक जैसा राष्ट्रीय कवि भुवनेश्वर मानते हैं, क्योंकि दोनों प्राचीन गौरव को, बीते हुए को गर्व और ईर्ष्या

से देखते हैं और वर्तमान पर रोते हैं, नाराज़ होते हैं। 'जोश' हिन्दुस्तान का 'फ़िरदौसी' ही नहीं है, वह विक्टर ह्यूगो भी है। 'जोश' क्रान्ति का कवि है न।' वह उन्हें इसलिए और भी विलक्षण लगता है, क्योंकि वह रईस भी दिखायी देता है, पर क्रान्तिकारी है—हाँ, क्रान्ति का कवि नहीं। यह विलक्षणता स्वयं भुवनेश्वर के व्यक्तित्व की भी पहचान है। इस पूरे बदलते युग की तथाकथित आधुनिकता और पूँजीवादिता को, उसके द्वारा उपजे विकारों को, मूल्यहीनता को भुवनेश्वर ने कैसे पहचान लिया था? "कम-से-कम उसने यह तो जाना है और उस पर अमल किया है कि साहित्य में टेक्नीक ही सब कुछ नहीं है। कैरेक्टर भी कोई चीज़ है। पूँजीवाद के इस युग में लिखनेवाली चीज़ तो आख़िर रुपया ही है। रुपया लिखता है।" उनके ये शब्द कितने असरदार, स्पष्ट और पैने हैं। महासमर के बाद विश्व भर में फैली राष्ट्रीयता की व्यापक लहर और धीरे-धीरे आर्थिक दृष्टि से ग़रीब भारत में पनपी राजनीतिक साम्प्रदायिकता को उन्होंने भाँप लिया था, पर 'जोश' इस सबसे बिलकुल अलग थे। देश की बदलती परिस्थिति पर भुवनेश्वर के व्यंग्य बार-बार उभरकर आते हैं और उस सबके बीच राजनीतिक जीवन के बीच वे कहते हैं कि 'हिन्दुस्तान का अकेला क्रान्तिकारी कवि बेसब्र और निराश है।' इस प्रतिक्रिया के अन्तर्गत भुवनेश्वर ने 'जोश' के स्वतन्त्र मन और उसके 'जोश- *Effusirness*—का खुले मन से चित्र खींचा है, जो 'जोश के 'नक़्शो निगार', 'शायर की रातें', 'शोला-ओ-शबनम' आदि के शेरों में दिखायी देता है। आरम्भ में ही भुवनेश्वर ने कह दिया था कि—

> "किसी का कहना है कि उर्दू शायरी में 'जोश' एक 'घटना' है। घटना इस माने में कि एक उर्दू का शायर पूर्व की शायरी की हर एक रूढ़ि (Mannerism) और मुग़ालते (Conciets) में पलकर बयालीस साल की उम्र में क्रान्ति का कवि हो जाए। ऐसा ही तो 'जोश' है। हमारा पहला और अकेला कवि जो खाई को लाँघ गया है और जो जैसे संगीनों के सामने तना हुआ पीछे आनेवालों को हुँकार रहा है।"
>
> (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 278)

'जोश' का यह मूल्यांकन भुवनेश्वर की पूरी सोच है, उनका पूरे विश्व और मनुष्य को समझने, उससे पूरे समय, साहित्य एवं साहित्यकार को समझाने का आधार है। यह सामान्य प्रतिक्रिया भर नहीं है, एक लेखक की पूरी रचना-दृष्टि है, उनकी आत्मसजगता और शिल्प की ताज़गी और बेबाकी का सुन्दर उदाहरण है। उनके शब्द, वाक्य, सन्दर्भ, विश्लेषण, घटनाएँ, संकेत आते चलते हैं—स्वतः। आगे-पीछे होती जाती बातों से एक अजीब-सी रोचकता बनती है। कुछ भी निर्धारित सच नहीं लगता और न अतिप्रेम, प्रशंसा या कटुता। सबके पीछे तर्क, सच्चाई, अनुभव, परिपक्व मन और बुद्धि का एहसास होता है। कभी-कभी लगता है कि

वे एक नाटककार की तरह नाट्यशैली से उसे नयी चमक दे देते हैं। एक रचनाकार का दायित्व उनके इस शब्द-चित्र में भी बोलता है।

उनका 'प्रेमचन्द जी का स्वर्गवास' भी मात्र एक टिप्पणी या निबन्ध नहीं है। उसे केवल श्रद्धांजलि के रूप में भी नहीं देखा जा सकता—

> "8 अक्टूबर, 1936 को प्रेमचन्द जी की मौत हो गयी। 8 अक्टूबर 1936 को प्रेमचन्द बहस-मुबाहसे, स्नेह और कटु आलोचना से परे हो गये। वह हिन्दी के सबसे महान् साहित्यिक का भाग्य है कि तुच्छ और ख़ुदगरज़ मुबाहसे से परे होने के लिए 60 साल की उम्र में उसे मरना पड़ा, जिस उम्र में साहित्यिक क़लम-नवीसी से ऊपर उठता है, महात्मा और प्रेरक समझा जाता है और गोर्की के नाम पर शहर और वायुयान बनते हैं।"
>
> (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 264)

पहली ही पंक्ति व्यंग्य और स्पष्टता की, संवेदनहीन समाज की विसंगति की अभिव्यक्ति है। भुवनेश्वर प्रेमचन्द को हिन्दी की एक शताब्दी मानते हैं, क्योंकि,

> "उन्होंने साहित्य का असली रूप हिन्दी को दिया, उन्होंने मौलिकता सृजन की, उन्होंने मौलिकता को एक द्रुत सजग वेश दिया, उन्होंने जैनेन्द्र पैदा किया। ...शुरुआत में वह एक लिखने का शौक़ीन था, बीच में एक कठिन संग्राम तैयार करता हुआ कलाकार और बाद में एक कैरेक्टर।...उसका कैरेक्टर उसकी अनेकता थी। ऐसी अनेकता, ऐसी वैराइटी की मिसाल विश्वसाहित्य में भी नहीं है। वह मोपासा की Moilrdity से भी ऊँचा उठ गया।"
>
> (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ.174)

भुवनेश्वर को प्रेमचन्द की जो बात पसन्द है, वह यह कि प्रेमचन्द सीधे जीवन तक जाते थे—वह जीवन को समझनेवाले थे, उसका विश्लेषण करने या चाहनेवाले नहीं थे। फ्रायड के बाद के साहित्यकार होते हुए भी प्रेमचन्द फ्रायड से दूर रहे। भुवनेश्वर के शब्दों में 'सेक्स एक बड़ी शक्ति है, पर साहित्य से उसका सम्बन्ध स्थापित करना कलाकार की इच्छा पर है।' भुवनेश्वर निश्चय ही रचनाकार की स्वतन्त्रता पर विश्वास करते हैं। सेक्स की ग्रन्थियाँ भुवनेश्वर में भी नहीं दीखती हैं। अश्लीलता को वे मात्र विलास मानते थे। प्रेमचन्द की तरह भुवनेश्वर ने भी सेक्स को, उससे जुड़े यथार्थवाद को अस्वीकार किया है। वस्तुतः भुवनेश्वर प्रेमचन्द का बड़ा आदर करते थे। प्रेमचन्द भी उनकी रचनाएँ तो 'हंस' में छापते ही रहे—उन्होंने स्वयं लिखा भी था कि "भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति और मर्म को हिला देनेवाली वाक्‌चातुरी है।"

'जोश' के अतिरिक्त भुवनेश्वर की दूसरी आलोचना निराला से सम्बद्ध है—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। यह एक तेज़ प्रतिक्रिया है, जिसने निराला जैसे

साहित्यकार को उद्वेलित कर दिया और हिन्दी साहित्य-जगत में हलचल मचा दी। भुवनेश्वर ने सीधे यहीं से शुरू किया कि 'निराला हिन्दी के इस युग की एक काण्ट्रोवर्सी हैं।' निराला से अपनी पहली दो मुलाक़ातों की चर्चा उन्होंने बड़े बेबाक शब्दों में की है। कहानी और नाटक की तरह बातचीत शुरू होती है। भुवनेश्वर को लगता है इस लम्वे प्रशस्त रोमन ढाँचे के कवि की आर्द्रता, कोमल मन और मस्तानापन कविता में कहीं ज़ाहिर नहीं होते। उनमें भुवनेश्वर को एक मैनरिज़्म, कला, भाषा का चमत्कार, चतुर शिल्पी का गुण दीखता है और रवीन्द्रनाथ के समान वह शक्ति नहीं दीखती—

> "उसकी कविता में साधना है। अध्यवसाय है। कारीगरी और कोमलता है। पौरुष है। पर वही नहीं है, जिसके बग़ैर वह न ब्राउनिंग है न बन्सी केवल 'निराला' है। वह बना सकता है, पर निर्माण नहीं कर सकता है। वह जीवन को पचा नहीं सकता।" (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 266)

इस आलोचना में भुवनेश्वर ने रवीन्द्रनाथ और ब्राउनिंग की रचना-शक्ति और विभिन्नता को पचाकर लिखने की ताक़त को निराला में नहीं पाया।

> "वह स्वर नहीं सुनता, जिसको टैगोर के अतिरिक्त और महान् कवियों ने सुना है..."

> लेकिन इसके साथ-साथ भुवनेश्वर निराला की इस मौलिकता को भी स्पष्ट कहते हैं कि—"पर वह हिन्दी का अकेला विचारक कवि है। उसकी कविता में एक दृढ़ता है (जो दुर्भाग्य से उसके गद्य में नहीं है) जो उसके मस्तिष्क के सूक्ष्म संचालन को पौराणिक कविता की परिधि में भी ले जाती है और यहाँ उसका, इस काव्य-युग की ओर कण्ट्रीब्यूशन है।"
>
> (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 267)

भुवनेश्वर इस बात में ज़रा भी न कटु हैं, न विवाद के कारण। वे निराला को कथाकार की हैसियत से गम्भीर विवेचन का पात्र नहीं मानते। उनके अनुसार निराला का यह दावा बेकार है कि वह प्रेमचन्द से आगे क़दम रख रहे हैं। ' भुवनेश्वर का यह स्पष्ट आकलन और कथन-निराला के गद्य के विषय में—किसी भी प्रकार के दुर्भाव या क्षुद्र मनोवृत्ति का परिणाम नहीं है। यह व्यापक सन्दर्भों में साहित्य का, साहित्य की कला का आकलन है—इसमें निराला के व्यक्तित्व और उनकी रचनाओं के अन्तर्सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन है। निराला के गद्य में सही मायने में प्रेमचन्द की शक्ति नहीं है। एक बड़ा, संघर्षशील और प्रखर साहित्यकार अगर दूसरे बड़े महाप्राण साहित्यकार पर स्पष्ट लिखता है, तो उसे उसी स्वस्थ, रचनात्मक दृष्टि से लिया जाना आवश्यक है। भुवनेश्वर का टोन आरोपण या छद्म कलुषता का नहीं है। स्पष्ट कथन उनका स्वभाव है, लेकिन निराला जैसा महान् कवि इस 'मूल्यांकन' को सहन नहीं कर पाया। उन्होंने इसका स्वयं भी उत्तर दिया। लिखित-अलिखित

आक्षेप, आरोपों की भाषा भुवनेश्वर के विवादास्पद व्यक्तित्व के विरुद्ध गयी। सभी विवादों से भुवनेश्वर के प्रति साहित्यिक पूर्वाग्रहों का भी पता चलता है। भुवनेश्वर के 'निराला' लेख पर बाद में स्वयं निराला का उत्तर और उसके साथ दो अन्य लेखकों की संपुष्टियाँ—पं. वाचस्पति पाठक की संपुष्टि-1 और पं. बलभद्र प्रसाद मिश्र की संपुष्टि-2 छपीं। ये सभी उत्तर भुवनेश्वर के प्रति 'आत्म-विज्ञप्ति', 'नौसिखुए लेखक को आचार्य के टोन में 'बोलने' और 'अंग्रेज़ी, फ्रेंच, रूसी, साहित्यकारों के नाम याद कर लेनेवाले असाधारण पण्डित, की बात माना गया। यह बहुत अपमानजनक और हलचल पैदा करनेवाला था। एक वाक्य उभरा कि "वे काठ की हाँडी हैं, जो सत्य की आँच के सामने ठहर नहीं सकती।"

आज भुवनेश्वर के समस्त साहित्य को पढ़ने के बाद ये वाक्य स्वतः अर्थहीन हो गये हैं। बाद में भुवनेश्वर ने उनका उत्तर भी दिया। ये सब प्रकाशित हैं। उनमें 'एक संग्राम करते हुए कलाकार' की पीड़ा भी है और बहुत सुस्पष्ट, लेकिन संयमित उत्तर भी, जैसा कि उन जैसे साहित्यकार की ओर से अपेक्षित है—सधा, वज़नदार, प्रश्न उठाता हुआ! भुवनेश्वर के साहित्य में कथ्य और शिल्प का जो संतुलन, भाषा का जो भीतरी रचाव दीखता है, वह यहाँ भी है। उन्होंने लिखा—

> "अगर यह निराला जी का 'इण्डिकेशन' है, तो कुरुचिपूर्ण है, अगर 'रिवेंज' है तो बहुत सख़्त।" (*भुवनेश्वर साहित्य*, पृ. 272)

वे निराला के अहम् को समझते थे और अपनी मजबूरियों को भी। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि कौन उनके बारे में क्या राय रखता है, लेकिन उसका ख़राब ढंग से छपना उन्हें बहुत पीड़ादायक लगा। शायद, उसके बाद उन्होंने किसी साहित्यकार पर नहीं लिखा। रचना-आलोचना के, साहित्य और साहित्यकार के, साहित्यकार एवं साहित्यकार के, दो प्रतिभाशाली-स्वाभिमानी रचनाकारों के व्यक्तित्व, विचारों पर ये उत्तर-प्रत्युत्तर प्रश्न उठाते हैं और एक दिशा-संकेत भी देते हैं। साहित्य में लगातार उपेक्षित और अस्वीकृत होते जाना भी भुवनेश्वर के लिए विक्षिप्त होने का कारण बना। यह पीड़ा निराला की ही नहीं थी कि 'मैं अलक्षित हूँ'—उससे बहुत ज़्यादा क्रूर स्तर पर भुवनेश्वर भीतर-ही-भीतर झेल रहे थे, जिसमें मानव-विरोधी विश्वव्यापी परिस्थितियों की उलझनों का संघर्ष भी था और व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष भी। वे स्वीकार करते हैं कि "बलवती परिस्थितियाँ मनुष्य से इससे भी जघन्य अपराध करवाती हैं। मुझसे करवा चुकी हैं। इन्हें एक संग्राम करते हुए कलाकार पर दाग़ लगाने के लिए प्रयोग करना हल्कापन है।"—सत्य यह है कि भीतर से भुवनेश्वर महान् व्यक्ति थे और बहुत संवेदनशील, निर्भीक और गहरे रचनाकार।

'भाभी-काम्प्लेक्स और कार्ल मार्क्स' और 'एक साहित्यिक मुगालता'—उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की प्रामाणिक रचनाएँ है। 'भाभी' के बहाने वे पूरी भारतीय पारिवारिक और सामाजिक संरचना पर व्यंग्य करते हैं—पूरी परम्परा बता देते हैं और

अर्थ तलाशते हैं कि साहित्य में, समाज में भाभी क्यों है? वे उसे आज 'पुरुष की बहुपत्नीक और स्त्री को बहुपति प्रवृत्तियों' से जोड़ते हैं। जैसे-जैसे विवाह सम्बन्ध पेचीदा और गुड्डल होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे आर्थिक उलझनों के बढ़ने से 'भाभी' साहित्य में कहाँ, किस रूप में पहुँच गयी, इसका आकलन वे करते हैं—"भाभी का सदासुहागिन सब रस भरी उर्वशी रूप सिर्फ़ एक रूढ़िपोषित ढोंग है।"—वे यह भी कहते हैं कि "भाभी का कॉम्प्लेक्स या प्राब्लम को हल करने की कोशिश मैंने नहीं की—क्योंकि मैं प्राब्लम मानता ही नहीं।" बातों-बातों के ढंग से वह फ्रायड, सेक्स, परिवार, रिश्तों तक पहुँच जाते हैं और सबके भीतर का तन्त्र खोल डालते हैं। भाभी एक 'ज़रूरत' बन जाती है—शायद एक सहूलियत भी। भारतीय सभ्यता में भाभी के सामाजिक पहलू पर बड़ी गहराई से उनकी क़लम चलती जाती है। समाज के पल रहे ढोंग, विवाह बन्धन के आडम्बर और विसंगतियों को वे उघाड़ते जाते हैं। शहज़ादों, परियों के क़िस्सों में भाभी को लेकर 'लड़ाई भिड़ाई' के काल तक की रोचक चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"और हमारी आज की भाभी मध्य वर्ग की बुर्जुआ चीज़ है।" और तब मध्य वर्ग की 'रोमानियत' समझते हुए वे कहते हैं कि "आज जब हम मानव-स्वभाव के बुनियादी नियमों से आँख मिला रहे हैं और जब साहित्य के बारे में हमने वह समझ लिया है कि साहित्य के लिए टेक्नीक ही सब कुछ नहीं है, बल्कि कैरेक्टर भी ज़रूरी है, ऐसे ख़ामख़ाह के साहित्यिक मुगालते पैदा करने से क्या फ़ायदा।" भुवनेश्वर किसी पर भी प्रश्न उठा सकते हैं? हिन्दी में 'भाभी' दिमाग़ी व्यसन से ज़्यादा कुछ नहीं। वे फ्रायड के बाद के साहित्यकार थे। मानते थे कि सेक्स एक बड़ी शक्ति है, पर यह भी मानते थे कि साहित्य से उसका सम्बन्ध स्थापित करना रचनाकार की इच्छा पर है। उसी तरह कार्ल मार्क्स को भी वे मानते हैं, पर वहाँ भी वे स्वतन्त्र है। 'कैरेक्टर' को लेकर उन्हें कोई मुगालता नहीं है।

भुवनेश्वर आलोचना विधा का तर्कसंगत ढाँचा लेकर नहीं चलते, वे वास्तविक अर्थ में 'आलोचना' कर रहे हैं—परम्परा, समय, समाज, सम्बन्धों, आडम्बर, खोखलेपन की और उस 'साहित्यिक मुगालते' की कि हम 'कैरेक्टर' सुधार देंगे। चुहलबाज़ी के टोन में चुटकियाँ लेते हुए वे लिखते हैं 'कभी-कभी भारतेन्दु उनके युग के प्रताप नारायण मिश्र के निबन्ध याद आने लगते हैं, पर भुवनेश्वर उतने 'सहज' भी नहीं हैं। वे स्वयं पेचीदे हैं और 'निराला' की तरह हैं। प्रश्न उठाते हैं और छूट के मौक़े बहुत लेते हैं। उनकी अपनी विचारधारा बहुत सुलझी हुई और स्पष्ट है, तटस्थ है। वे पश्चिम की सभ्यता, समाज, साहित्य को भी समझ रहे हैं और भारत की भी। बात कहने का नया मैनरिज़्म निकाल लेते हैं। यह सचमुच 'वाक् वैदग्ध्य' है।

---

# 7
# एकांकी विधा के मौलिक सर्जक

यूरोप में एकांकी के जन्म से यह स्पष्ट है कि एकांकी का जन्म स्वतन्त्र रूप से हुआ और धीरे-धीरे उसने अपनी अलग विशिष्ट टेक्नीक बना ली। हिन्दी एकांकी का जन्म कब हुआ? इस सम्बन्ध में मतभेद है। सत्येन्द्र, रामचरण महेन्द्र, ललित प्रसाद शुक्ल आदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानते हैं। सोमनाथ गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि 'एकांकी की प्रथा उन्हीं से चली है।' दूसरी ओर नगेन्द्र, रामकुमार वर्मा आदि की धारणा है कि भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों के एक अंक के नाटकों और आधुनिक एकांकियाँ के कला-विधान में बहुत अन्तर है। नगेन्द्र ने प्रसाद के *एक घूँट* को हिन्दी का प्रथम एकांकी माना है। एकांकी की टेक्नीक का *एक घूँट* में पूरा निर्वाह है--हाँ, उसमें प्रसादकत्व का गहरा रंग अवश्य है। इस प्रकार कोई भारतेन्दु को पहला हिन्दी एकांकीकार मानता है, कोई *एक घूँट* के लेखक जयशंकर प्रसाद को, कोई 'बादल की मृत्यु' (1938) के रचनाकार रामकुमार वर्मा को और कोई *श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना* (1933) के रचयिता भुवनेश्वर प्रसाद को प्रथम एकांकीकार मानता है। यह मतभेद अभी तक विद्यमान है। यह अवश्य है कि एकांकी की टेक्नीक का वह रूप भारतेन्दु के नाटकों में नहीं मिलता, किन्तु एकांकी के अविकसित, प्रारम्भिक रूप की दृष्टि से उनके नाटकों को परम्परा के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में काफ़ी लम्बे समय तक भुवनेश्वर का नाम एकांकी के विकास-क्रम में उनके संग्रह *कारवाँ* के नाम के साथ होता रहा, इससे अधिक उनके व्यक्तित्व और नाटकों की सर्जनात्मकता पर समीक्षा-जगत में अधिक विचार नहीं हुआ। इधर *कारवाँ* के पुनः प्रकाशित होने पर भुवनेश्वर का पूनर्मूल्यांकन हुआ और उनकी कई रचनाएँ--कहानियाँ,.नाटक प्रकाश में आये। रंगमंच पर उनके नाटकों की प्रस्तुतियाँ हुईं और नये नाट्य समीक्षकों और निर्देशकों ने भुवनेश्वर की अप्रतिम प्रतिभा को पहचाना। सब प्रकार से हिन्दी नाटक का इतिहास ही बदला हुआ दीखने लगा। छायावादी भावुकता और रूमानी कल्पना के युग में भुवनेश्वर जैसा प्रखर, ठोस व्यक्तित्व और जीवन के मूलभूत प्रश्नों से सीधे साक्षात्कार करता

हुआ उनका साहित्य और पाठ्य नाटकों के युग में रंगमंच की परिपक्व कल्पना से रचे उनके नाटक सहसा ही चौंकाते हैं। आश्चर्य होता है कि जो प्रयोग कथानक, भाषा, यथार्थ, नाट्यानुभूति और रंगानुभूति के स्तर पर अब हिन्दी नाटक में दिखायी देने शुरू हुए हैं, उनका एक प्रौढ़ रूप वर्षों पहले भुवनेश्वर में मौजूद है। उस समय 'आधुनिकता', 'यथार्थ' और 'नये' की खोज की आतुरता इतनी किसी में नहीं मिलती है। अपने समय में वे अकेले ऐसे रचनाकार दिखायी देते हैं, जिसने बदलते जीवन-मूल्यों को इतनी तेज़ी से अनुभव किया।

1936 में हिन्दी साहित्य-लेखन में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई थीं—एक, भुवनेश्वर के *कारवाँ* संग्रह का प्रकाशन और दूसरी 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का उद्‌भव, जिसके अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचन्द ने दो नये लेखकों का ही नाम लिया था—जैनेन्द्र और भुवनेश्वर। *कारवाँ* का प्रकाशन हिन्दी एकांकी के युग में एक क्रान्तिकारी मोड़ था। यहाँ से एक नये युग का सूत्रपात हुआ, क्योंकि हिन्दी एकांकी का वास्तविक और समग्र स्वरूप—कथ्य, भाषा और शिल्प की दृष्टि से—यहाँ मिलता है। जयशंकर प्रसाद का *एक घूँट* एकांकी का बीज रूप है, रामकुमार वर्मा का *बादल की मृत्यु* नाटक कविता जैसा है, अभिनय भाषा, संघर्ष का वह रूप इसमें नहीं है, जो एकांकी की मूल पहचान है—*बादल की मृत्यु* मैटरलिंक की शैली पर पाश्चात्य पद्धति का एक रूपक-सा लगता है, लेकिन 1933 में प्रकाशित भुवनेश्वर का प्रथम एकांकी *श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना* सही अर्थों में आधुनिक एकांकी है। इसीलिए आगे आनेवाले आलोचकों, नाटककारों, रंगकर्मियों ने भुवनेश्वर को हिन्दी के प्रथम आधुनिक एकांकीकार के रूप में पहचाना। सामान्यतः उनके नाटककार व्यक्तित्व पर बर्नार्ड शॉ, डी. एच. लारेन्स आदि के पश्चिमी प्रभावों की चर्चा होती रही, पर एकांकी में उनकी अपनी मौलिकता और सर्जनात्मक प्रतिभा को, उनकी तेज़, ओजस्वी, सांकेतिक भाषा को और नवीन प्रयोगशील शिल्प की धार को नहीं पहचाना गया। जबकि शॉ और लारेन्स को आत्मसात् कर भुवनेश्वर की मुखरित प्रतिभा, कलात्मकता और प्रविशिष्टता को पहचानने की आवश्यकता थी और आज भी है। *कारवाँ* के प्रथम प्रकाशन के बाद 1950 तक के उनके लिखित कुल तेईस एकांकियों में से दस एकांकी विपिन कुमार अग्रवाल की लम्बी ऐतिहासिक भूमिका के साथ दोबारा प्रकाशित हुए। यह भूमिका भुवनेश्वर को न केवल 'नये नाटक के जन्मदाता' के रूप में पहचानती है और एकांकी-कला में उनके महत्त्वपूर्ण पक्षों का अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म मूल्यांकन करती है, बल्कि हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास को एक नया मोड़ देती है, वैचारिकता देती है। यह एक नये नाट्यान्दोलन और भुवनेश्वर के साथ नाटक, रंगमंच और भाषा की नितान्त नवीन सम्भावनाओं की खोज थी—यक एक समग्र आलोचना थी, जो पहली बार हुई। काफ़ी लम्बे समय बाद भुवनेश्वर का नाम फिर केन्द्र में आया। एक बार फिर 1976 में

शुकदेव सिंह ने भुवनेश्वर की अन्य दुर्लभ कहानियाँ, एकांकी आदि रचनाएँ प्राप्त की और *भुवनेश्वर की रचनाएँ* नाम से उन्हें संकलित किया—उनके साथ उनकी लम्बी भूमिका भी भुवनेश्वर के व्यक्तित्व और कृतित्व को, उनके एकांकीकार की विलक्षण प्रतिभा को प्रतिष्ठित करती है। यह संकलन और यह भूमिका भी मूल्यांकन और इतिहास-लेखन की दिशा में क्रान्तिकारी महत्त्व रखती है। *भुवनेश्वर की रचनाएँ* पुस्तक में *कारवाँ* संग्रह में प्रकाशित भुवनेश्वर के एकांकियों की सूची में 'सींकों की गाड़ी' (1950) भुवनेश्वर की अन्तिम रचना मानी गयी है, पर 1957 में रचित, 'ख़ामोशी' प्राप्त होने पर शुकदेव सिंह 'ख़ामोशी' को ही अन्तिम रचना मानते हैं—"भुवनेश्वर हिन्दी नाटकों के इतिहास की फ़ैंटेसी हैं—पुरा कथा हैं। अपने रचना-काल में ही अपनी तेजस्वी रचनाशीलता के कारण वे साहित्य में लुप्त हो गये थे। उन्हीं दिनों रोटी और शराब की ज़रूरत पूरी करने के लिए एक नाटक (ख़ामोशी) ज़िन्दगी का आख़िरी नाटक लिखा था। यह नाटक भी उनकी रचनाओं के इतिहास में पूरी तरह गुम हो गया आश्चर्य के साथ आप पाएँगे कि सारी तंगी और विक्षिप्तता के बावजूद 'ख़ामोशी' तक भुवनेश्वर का क्रमिक विकास हुआ है और अब भी वे हिन्दी के पहले और आख़िरी सर्वश्रेष्ठ एकांकीकार हैं।"

(*भुवनेश्वर : व्यक्तित्व और कृतित्व*, पृ. 54)

आज जब उनकी एकांकी-कला प्रकाश में आ चुकी है, उन्हें रंगमंच और मूल्यांकन दृष्टि मिल चुकी है। आज के बदलते समय के साथ उनकी पहचान हो चुकी है, कृष्णनारायण कक्कड़, सुरेश अवस्थी, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल आदि अनेक प्रसिद्ध रचनाकारों ने उन्हें हिन्दी का पहला और अन्तिम श्रेष्ठ एकांकीकार माना है। *कारवाँ* के सन्दर्भ में जून 1935 में 'हंस' में प्रेमचन्द ने लिखा, "*कारवाँ* हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नयी प्रगति का प्रवर्तक है जिसमें शॉ और आस्कर वाइल्ड का सुन्दर समन्वय है। हमारे जीवन के गुप्त रहस्यों, प्रेम और भावुकता की आड़ में छिपे हुए मनोविकारों पर एक ऐसा निर्दय प्रकाश उन्होंने डाला है कि उनकी ओर ताकते हुए डर लगता है। भुवनेश्वर की शक्ति और इतिहास में उनकी सार्थकता को पहचानने पर अब लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह मान्यता महत्त्व रखती है कि—"हिन्दी एकांकी के बहुत-से जनक हैं, किन्तु मैं भुवनेश्वर को ही आधुनिक रंगमंच का जनक मानता हूँ, क्योंकि आधुनिकता काल-सापेक्ष नहीं है। वह मूलतः चेतना और भावबोध का नाम है। इस अर्थ में भुवनेश्वर का व्यक्तित्व केवल आधुनिक है और शायद अपने समय से पहले पैदा होने के कारण वह स्वयं, उनकी रचनाएँ, उनके पात्र सभी इस अभिशाप से अभिशप्त हैं।"

(*भुवनेश्वर : व्यक्तित्व और कृतित्व*, पृ. 24)

भुवनेश्वर में सच्ची आधुनिकता है। उनके एकांकी जीवन को बराबर एक चौकन्नी और प्रश्नाकुल दृष्टि से देखते हैं। उनका यह तेवर ही उनकी आधुनिकता

है। भुवनेश्वर बहुत पहले समझ गये थे कि एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है। भुवनेश्वर के एकांकी जीवन के कटु यथार्थ विसंगतियों और, मानवीय सम्बन्धों के खोखलेपन को खोलते हैं। वे बाह्य यथार्थ तक सीमित नहीं रहते, यथार्थ के भीतर तक झाँककर एक विस्फोटक, निर्मम चित्रण करते हैं, जीवन की विरूपता को, उन कुत्सित ग्रन्थियों, रूढ़िवादी जीवन पद्धतियों को उघाड़ फेंकते हैं, जो जीवन और समाज को विषाक्त कर रहे हैं। इन एकांकियों के कथ्य के स्तर पर आधुनिक जीवन की अनेक विडम्बनाएँ हैं—यौन भावनाएँ हैं, कुण्ठाएँ और आत्मपीड़न हैं, आत्मप्रवंचना है और एक तिलमिलाहट है कुछ कहने, न कह पाने की। आदर्श के छिन्न-भिन्न होने का भय किस तरक गुस्सा बनकर, हताशा बनकर उबलता है और व्यक्त नहीं हो पाता—ऐसी मानवीय, विषम स्थितियों—मनःस्थितियों को उन्होंने शब्द दिये हैं।

दरअसल भुवनेश्वर के नाटक को समझने के लिए पुरानी अवधारणाओं से अपने आपको मुक्त करना ज़रूरी होगा। उनके एकांकी न मनोरंजन करते हैं, न आदर्श या समाधान की ओर ले जाते हैं, वे अप्रिय सत्य के एकांकी हैं। वे सर्वहारा वर्ग या कमज़ोर वर्ग यानी आम आदमी की समस्या का चित्रण नहीं करते हैं, उनमें सम्भ्रान्त वर्ग है—उच्चवर्ग की मनःस्थिति है या उच्च मध्यवर्ग का आभिजात्य जीवन। पर उसके चित्रण से वे स्थिर मानव-चरित्र को और स्थिर, जड़ समाज को झकझोर डालते हैं। उनका हर एकांकी जीवन के एक अप्रिय सत्य के शिकंजे में चलता है, जिसकी परतें भुवनेश्वर बड़ी बेरहमी से उघाड़ते हैं। ऐसा लगता है कि समाज की एकरूपता को वे तोड़ना चाहते हैं। पुरुष प्रधान समाज को भी वे स्वीकार नहीं करते-उनकी दृष्टि इतनी निश्चित साँचे में ढली नहीं है कि वे पुरुष की तुलना में स्त्री पर बहुत विश्वास करते हों। बल्कि उनका कहना है कि "प्रतिहिंसा और प्रेम में स्त्री पुरुष से अधिक आदिम है। वही सारी समस्या का मूल है।" समाज की क्या परिभाषा हो? इससं अधिक उनकी चिन्ता यह है कि समाज में अस्वीकार करने की भी स्वतन्त्रता हो। व्यक्ति की स्वतन्त्रता में ही वह समाज की भी स्वतन्त्रता देखते हैं और जीवन को उस रूप में तैयार करते रहना चाहते हैं। जहाँ समाज के अभिशाप और विसंगतियों पर चोट करने की शक्ति भी बनी रहे। त्रिकोणात्मक प्रेम के प्रसंग उनके कई एकांकियों में आये हैं। वैसे भी वे मान रहे थे कि "आधुनिक युग एक पागल वृद्धा के समान है, उसे बकने दो।" *श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना* की पत्नी पर पुरुष प्रेम को साधिकार कहती है। मतभेद, असहमति, उत्तेजना, आवेग—सब नाटक को एक उन्मेष देते हैं और मानवीय चरित्र एकदम पलटता महसूस होता है। त्रिकोणात्मक प्रेम का ऐसा ही दृश्य 'रोमांस रोमांच' में है। वहाँ पति-पत्नी के बीच अमरनाथ एक हलचल की तरह आता है। यहाँ छल छद्म की भर्त्सना है, पर मुक्त प्रेम की नहीं। 'लाटरी' एकांकी में भी प्रेम त्रिकोण का कटु

सत्य चित्रित हुआ है। पत्नी माया का अमानुषिक अट्टहास ही एक हस्तक्षेप है प्रचलित व्यवस्था में। 'शैतान' एकांकी की स्त्री परपुरुष के प्रभाव में उन्मुक्त आचरण करती है। वे अपने पात्रों में किसी प्रकार की कुण्ठा या ग्लानि भी नहीं दिखाते हैं। राजेन इस बदलते औद्योगिक युग का, भौतिकतावादी समाज का युवक है, जहाँ ईश्वर, धर्म, श्रद्धा सबके अर्थ बदल गये हैं–जहाँ जीवन, आनन्द, शक्ति और रुपये के लिए आदमी जीता है, लेकिन वह अपनी दृष्टि में हीन भी नहीं बनना चाहता, जीवन में भद्दी भावुकता भरकर जीवन नष्ट नहीं करना चाहता। राजेन कहता है, "मैं शैतान हूँ–पहले मैं उससे डरता था, दूर भागता था।...मैं सुन्दर और पुण्य पर विश्वास करता था, पर मैंने अब जाना है कि मैं शैतान हूँ, मैं जीवन हूँ।"

इस एकांकी में जहाँ एक ओर हरदेव सिंह नामक पात्र है, जो पवित्रता, विवेक और बलिदान की बात करता है, वहीं दूसरी ओर युवक राजेन भी है, जो कहता है कि "मैं अपने धन से तुम्हारी बड़ी-बड़ी राजनीतिक संस्थाएँ ख़रीद सकता हूँ।" बीच-बीच में स्त्री से राजेन की बातें समाज में व्याप्त विषैलेपन और खोखलेपन पर व्यंग्य करती हैं। राजेन का यह स्पष्ट कथन कि हम दोनों ही तुम्हारे अयोग्य हैं और सहसा स्त्री का उसके गले में बाँह डालकर उसके होंठों को चूम लेना–एक कल्पित सत्य, सड़े-गले जीवन, परम्परा, सम्बन्धों को देखना और पूरी व्यवस्था की मर्यादा, सुन्दरता को सहसा एक झटके में इस तरह उघाड़ फेंकना भुवनेश्वर का कौशल है। जिस संयम से, तटस्थता और निर्मम भाव से वे चित्रण करते हैं, वह गहरी सूझबूझ का उदाहरण है।

'लाटरी' में माया से समाज का विश्लेषण भुवनेश्वर इस प्रकार कराते हैं, "समाज का तिल ताड़ क्यों बनाते हो? समाज तो जीवन के अन्धे पथ पर लाल प्रकाश है, कवाब की हड्डी है, जो हमारे गले में अड़कर हमें उन परिस्थितियों में खींच लाती है, जिनसे बाहर होना जीवन को चुनौती देना है। वह जिसे प्रेम न करे, समझे नहीं और हमेशा दूसरे पुरुष का दाहक प्रेम लिये रहे?"

माया अपने स्वत्व के साथ जीना चाहती है। जबकि जीवन उन्हीं विरोधाभासों के बीच रहने के लिए मजबूर करता है। वह अपने पति किशोर से कहती है, "देखो नाटक का यह दृश्य पूरा करो। इस मनुष्य को रोको, जो एक निर्लज्ज बेवफ़ा स्त्री के लिए अपना हृदय और घर तोड़कर जा रहा है।" (*कारवाँ*, पृ. 110)

"बच्चे वह न तुम्हारे हैं न मेरे। वह एक प्रवंचना के क्रूर हास्य हैं, जिसके हम दोनों शिकार हुए। (*कारवाँ*, पृ. 109)

भुवनेश्वर के इन सभी एकांकियों में पति आश्चर्यजनक ढंग से कमज़ोर दिखाया गया है। शायद वह पुरुष प्रधान समाज और पति के शासन, अधिकार तन्त्र को तोड़ना चाहते हैं। जिस समय ये एकांकी लिखे गये, उस समय एक सांकेतिक, सजग शिल्प को समझा नहीं गया। केवल शब्दों और बाहरी घटना पर ध्यान गया,

इसलिए आलोचना या साहित्य में इन्हें बहुत हल्के ढंग से लिया गया। समाज में हर ढाँचे को भुवनेश्वर अस्वीकार करते हैं—चाहे वह पुराना हो या नया। प्राचीन नाटकों में स्त्री-पुरुष चरित्रों की, प्रेम की, सम्बन्धों की जो मर्यादा चली आ रही थी, जो हत्या, आत्महत्या, भावुकता के प्रसंग और घटनाएँ चले आ रहे थे, भुवनेश्वर उससे एकांकी को एकदम अलग रखते हैं। उपयुक्त एकांकियों में हत्या, आत्महत्या के अवसर आते हैं स्वाभाविक रूप में पर लेख 'मृत्यु' की स्थिति आने नहीं देता—उसका विश्वास जीने में है।

भुवनेश्वर के अन्य एकांकी भी जीवन के खोखलेपन और कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति हैं। 'ऊसर' बेहद हैरान करता है। उपेन्द्रनाथ अश्क की स्पष्ट मान्यता है कि 'ऊसर', 'स्ट्राइक', 'ताँबे की कीड़े' जैसे नाटक हिन्दी में नहीं। यह व्यंग्यात्मक नाटक है, डायलाग्स हैं, व्यंग्य का कमाल है। " 'ऊसर' का व्यंग्य बहुत गहरे तक मार करता है। पूरा एकांकी सिंबालिक है। भुवनेश्वर की बहुत अच्छी और ताज़ा स्टाइल है इसमें।" (*भुवनेश्वर : व्यक्तित्व और कृतित्व*, पृ. 144)

'ऊसर' ड्राइंगरूम की रचना है, पर फिर भी वह प्रचलित शैली से एकदम स्वतन्त्र है—कथाविहीन, पात्रों का, फार्म का कोई चौखटा नहीं—एकदम ताज़ा भाषा और संवाद।

**गृहस्वामी**—मेरा ज़िन्दगी का एटीट्यूड बिलकुल मुख़्तलिफ़ है। तुम अपने सोशलिज़्म ओशलिज़्म के जोश में शायद यह समझ बैठे हो कि ज़िन्दगी का गहरे से गहरा मतलब तुम्हारे लिए साफ़ हो गया है। जैसे कोई बड़ा सरकश घोड़ा तुम्हारे काबू में आ गया, पर ज़िन्दगी अगर इस तरह लटके और फ़ार्मूलों में बाँधी जा सकती, तो आज तक कब की ख़त्म हो जाती...

× × ×

मैं कहता हूँ कि आनेवाली जेनरेशन, चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की हमसे अच्छी होगी—हमसे। (*कारवाँ*, पृ. 123)

बीच-बीच में 'ऊसर' में भुवनेश्वर ने बेतुकी बातों, एब्सर्ड स्थितियों, पात्रों के प्रवेशादि से जो हास्य या चुटीलापन पैदा किया है—जिस तरह विश्व-मानव की चिन्ता की है और विश्व के व्यापक राजनीतिक पटल के बेहद सार्थक, व्यंजक सन्दर्भ लिए हैं, वह भुवनेश्वर की प्रतिभा से ही सम्भव था। क़िस्सों से, गाने, गद्य, खेल और घरेलू माहौल से जिस तरह व्यापक सच कहा गया है—वह विलक्षण है। वह अपनी संरचना में जटिल, रोचक और लघु रूप में नाटक है। बड़ी मनोवैज्ञानिक पकड़ भी है चरित्रों में, स्थितियों और संवादों में। 'ऊसर' मध्यवर्गीय जीवन के अत्यन्त हास्यास्पद स्तर के बिखराव को, सम्बन्धहीनता को, अनेक चेहरों को, स्त्री पात्रों की सीमाओं को दिखानेवाला बहुत सघन एकांकी है। कोई स्त्री पात्र कुछ नहीं जानता,

उनकी सीमा उनका शरीर है—कई पात्रों से उन घृणित और सड़ी हुई ग्रन्थियों को दिखाया गया है। सब अकेले हैं और एक-दूसरे से अजनबी से, ऊबे हुए या फूहड़ हँसी हँसते हुए। ट्यूटर पढ़ा-लिखा बेकार व्यक्ति है और बनावटी है, कन्फ़्यूज़्ड है—यद्यपि वह समझता है कि वह 'इण्टेलेक्चुअल एक्सपेरीमेण्ट' कर रहा है। परस्पर विरोधी इतने स्वर हैं इतनी दमित इच्छाएँ हैं कि ऐसे मनुष्य की तुलना में वह बालक अच्छा है और वह कुत्ता! और उन दोनों का रिश्ता।

इसी प्रकार 'स्ट्राइक' एकांकी के कथ्य और शिल्प भी ताज़गी लिये हुए हैं—यह भी सांकेतिक एकांकी है। पूरा परिवार ही एक फ़ैक्ट्री है—यान्त्रिक जीवन पति-पत्नी मशीन के पुर्जे जैसे, श्यामा विवाह की विडम्बना का शिकार है। श्रीपत राय ने 1938 में 'हंस' का 'एकांकी विशेषांक' निकाला था, जिसकी बहुत चर्चा हुई थी। उसमें 'स्ट्राइक' का प्रकाशन हुआ था। यह एकांकी अश्क जी को भी बहुत पसन्द था। उनका कहना था कि उन्हें भुवनेश्वर के नाटकों पर बर्नार्ड शॉ की कोई छाप नहीं लगती। उनकी जीनियस प्रतिभा, उनके लेखन की ताक़त को उपेन्द्रनाथ अश्क ने, कवि नरेश मेहता ने पहचाना था और तभी कहा था कि 'ऊसर', 'स्ट्राइक' और 'ताँबे के कीड़े' जैसे नाटक हिन्दी में हैं नहीं। 'स्ट्राइक' में भी मध्यवर्ग का संकट है। पुरुष शुरू से ही लम्बे संवादों में जिस तरह कटुता, झल्लाहट, उकताहट को बकता जाता है, वह भाषा, वह संवाद-रचना वह तेज़ी और गुस्सा मूर्त हो जाता है—दनादन उसके मुँह से गालियाँ निकलती रहती हैं—जिस तरह सुबह के नाश्ते पर, जिस लहजे में स्त्री-पुरुष की बातें होती जा रहीं हैं और एक पूरा सक्रिय रूप बनता है। पूरा बदलता युग मूल्यहीनता और उससे उत्पन्न कटुता, भुवनेश्वर के विचार पुरुष के मुख से निकलते हैं—

"पुरुष—यह! यही तो इन कमबख़्तों को मिटा देता है। यह समझते हैं कि बहुमत उन्हें गदहों से बछड़ा बना देगा। कमबख़्त यह नहीं समझते कि अब बहुमत के माने ही बदल गये हैं बहुमत थोड़े-से बेजार अधमरे केंचुओं का नाम थोड़े ही है! वह शक्ति दुनिया को हिला देनेवाली शक्ति का नाम है और वह हमेशा एक आदमी—एक आदमी में होती है।

(*कारवाँ*, पृ. 137)

चापलूसी, स्वार्थ, अवसरवादिता, षड्यन्त्र, पाखण्ड किस तरह घर करते जा रहे हैं—परिवार में भी समाज में भी, पूरी व्यवस्था में—यह 'स्ट्राइक' का व्यंग्य है। कोई उसूल नहीं, कोई हौसला नहीं। भला इसे ज़िन्दगी कहते हैं? यहाँ भी स्त्री का एक सीमित नज़रिया है—दीन दुनिया से उदासीन। बस पार्टी, घर, स्वयं अपने में डूबी। कोई भी बड़ा प्रसंग आने पर वह नितान्त सामान्य बातों में उलझ जाती है। मसलन पति द्वारा लेखक बर्नार्ड शॉ की चर्चा आते ही उसे कार्ड, मीटिंग, साड़ी याद आने लगती है। विवाह, पत्नी के प्रसंग भी आते हैं। जीवन के अनुभवों के आगे पुस्तकें सब झूठी हैं। पुरुष का एक बेसरोकार तरीक़ा है शादी के प्रति। मशीन का

एक पुरजा बिगड़ जाए तो पुरजा बदल डालिए, स्वयं बदल जाइये। लेकिन ये सब बातें धरी रह जाती हैं, जब स्वयं उसकी पत्नी लखनऊ घूमने गयी और उस दिन नहीं आती। खाना, घर, कार सब रखे रह जाते हैं और चपरासी कहता है, "हुज़ूर, आपका कुत्ता बड़ा पानीदार है। अंग्रेज़ी है?" (*कारवाँ*, पृ. 153)

भुवनेश्वर समाज के घटकों और व्यवस्थाओं का कड़वे तीखे यथार्थ का बड़ा घना चित्रण करते हैं। भुवनेश्वर की निजी विशेषता शार्पनेस और घनत्व है। जो हिन्दी एकांकी सरलता और एक ढाँचे में बँधता जा रहा था, उसे उन्होंने व्यापक क्षमता प्रदान की। नाटककार-आलोचक विपिन कुमार अग्रवाल ने अनुकूल टिप्पणी की, "नया नाटक अज़ीब इसलिए नहीं लगता कि उसमें यथार्थ में होनेवाली घटनाएँ ग़ायब हैं, बल्कि इसलिए लगता है कि उसमें अब तक आदत से बने नाटकीय यथार्थ का भ्रम टूटता है।" (*कारवाँ*, प्रवेश)

'एक साम्यहीन साम्यवाद' का मज़दूर तो कार्ल मार्क्स में भी कृष्ण की रासलीला देखता है। यह एकांकी ट्रेड यूनियन लीडर का पर्दाफ़ाश करता है। मज़दूर प्रसंग होने के कारण यहाँ भाषा-शिल्प का नमूना बदलता हुआ है। आम आदमी का संघर्ष है और राजनीति है। साम्यवाद के प्रति भुवनेश्वर की प्रतिक्रिया है कि "साम्यवाद तो एक वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक भावुकता है।" "औरत की जात—या तो मज़ा उड़ाती है या न उड़ाने के लिए पछताती है"—मूल विषय और स्त्री दोनों एक साथ चलते रहते हैं उनके एकांकियों में। 'आदमख़ोर' एकांकी भुवनेश्वर की प्रगतिशील दृष्टि का प्रतीक है। इसमें भी वह मज़दूरों का जीवन-संघर्ष और निराशा व्यक्त करते हैं। पर दूसरी ओर भुवनेश्वर का ऐतिहासिक एकांकी 'सिकन्दर' है। यह सिकन्दर का आत्मसाक्षात्कार है और उस युग का नाटक है, जब हिन्दी नाटक में इतिहास, पुराण, भारतीयता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण और काव्य हावी था। आक्रमण और पराभव का प्रश्न लेखक के सामने यहाँ उतना नहीं है, जितना एक विदेशी आक्रामक का आत्मपराभव। ऊबा हुआ, अकेला, बच्चा-सा। ब्राह्मणों से उसके संवाद भारतीय संस्कृति और ज्ञान के प्रचारक हैं। अन्ततः वह एक विश्वविजयी बालक-सा बन जाता है। आश्चर्य होता है यहाँ भुवनेश्वर की भाषा का आन्तरिक काव्य और सर्वथा भिन्न नाट्यधर्म देखकर। वे जानते थे किस नाटक को क्यों, कैसा शिल्प, भाषा और प्रवाह, लय और टोन चाहिए। इधर उनके जो एकांकी प्रकाशित हुए—'आज़ादी की नींद', 'रोशनी और आग', 'ख़ामोशी' इनमें उनका टोन भिन्न है।

'आज़ादी की नींद', एक प्रहसन के रूप में रचा गया बेहद जटिल, सांकेतिक नाटक है। यह जनवरी 1948 में 'रक्ताभ' में छपा था और दूसरा एकांकी 'जेरूसलम को' 'रक्ताभ' के मार्च 1948 में। 'आज़ादी की नींद' को एक जीनियस की प्रयोगशील रचना कहा जा सकता है। भुवनेश्वर के पास एक गम्भीर, अत्यन्त

संश्लिष्ट प्रहसन लिखने की अद्भुत क्षमता है। 'आज़ादी की नींद' एक प्रहसन है, लेकिन उसकी बुनावट जटिल और संकेत सूक्ष्म है—इस प्रहसंन में भी सार्थकता है, सर्जनात्मकता है, मात्र मनोरंजन तत्त्व नहीं। पात्रों के नामों के चयन से लेकर संवादों के गुम्फन तक लाक्षणिकता द्रष्टव्य है। भुवनेश्वर पात्रों के नाम और क्रिया में सम्बन्ध स्थापित करते चलते हैं और कभी-कभी नाम के स्थान पर सर्वनाम या विशेषण का भी प्रयोग कर लेते हैं। 'आज़ादी की नींद' में प्रचलित कथानक का निश्चित ढाँचा नहीं है, केवल स्थितियाँ हैं, जो क्रमशः सांकेतिक होती जाती हैं पात्रों के संवादों और क्रियाओं से। आज़ादी के मोहभंग और विद्रोह के स्वर को समय से बहुत पहले भुवनेश्वर ने इसमें एक हास्य क्रिया के रूप में दिखा दिया है। नौकर की कल्पना आम नाटकों या एकांकियों—प्रहसनों से हटकर की गयी है, वह घिसा-पिटा फ़ार्मूलाबद्ध पात्र नहीं है, बल्कि नाटक को वर्तमान और भविष्य से जोड़नेवाला सक्रिय पात्र है। उस युग में, जबकि हिन्दी रंगमंच का अस्तित्व ही नहीं था और पाठ्य नाटक ही लिखे जा रहे थे, उस समय सादे मंच पर अत्यन्त सूक्ष्म, सांकेतिक, तारतम्यपूर्ण नाटक की रचना करते जाना रचनात्मक प्रतिभा का उदाहरण है। भावुकता को नकार कर जीवन के ठोस सत्य को सूक्ष्म सांकेतिक ढंग से कहना भुवनेश्वर को आता था।

भुवनेश्वर अपने छायावादी युग में बिलकुल अलग, मौलिक, आधुनिक और आनेवाले मूल्यों के प्रति सचेत करनेवाले नाटककार थे। भुवनेश्वर ने उसके इतने आयाम दिखा दिये हैं कि आश्चर्य होता है। जो आज़ादी आज अपने भयावह रूप में हमारे सामने है, उस अपूर्णता और 'भयानक ख़बर' को उन्होंने इतना पहले समझ लिया था? ऐसा ही एक व्यंग्य उन्होंने 'रोशनी और आग' में किया है—"यह आदमी कौन-सी बला है, आज तक तो इसका नाम नहीं सुना गया था।" बेगम का यह वाक्य चोट करता है।

'जेरूसलम को' में एक बृहद नाटक की सम्भावनाएँ हैं। 'जेरूसलम को' को भुवनेश्वर ने एक ऐतिहासिक नाटक कहा है, जिसके रंगनिर्देश में उन्होंने बड़े दृश्यफ़लक और प्रकाश के रंगों का उल्लेख किया है। एक रोमन थियेटर का वातावरण मिलता है। सैलानी यहूदी एक सूत्रधार की तरह प्रवेश करता है और नाटक असंगत नाटक की तरह पूरा इतिहास और समकालीन यथार्थ व्यंजित करने लगता है। अब्राहम की सन्तान, ख़ुदा का पुत्र, मनुष्य का पुत्र यह सैलानी इतिहासकार और लेखक की पीड़ा का सारतत्त्व है। इसमें भी भुवनेश्वर ने अपने लेखक की गहरी वेदना को, यन्त्रणा को विश्व-इतिहास और विश्व-मानव से जोड़कर इस तरह व्यक्त किया है कि नाटक हमें हिला डालता है और 'ऐतिहासिक' नाटक के प्रेम से नाट्य रचना को बिलकुल मुक्त कर देता है। इस प्रयास में भुवनेश्वर की भाषा यहाँ नया आयाम लेती है, नया रूप रचती है। यह बहुत बड़े फलक की,

यहूदियों की ऐसी रखी गयी भाषा है, जिसे सब समझ सकें। सेक्स, ग़रीबी, भूख, भूख मिटाने की ललक, कोशिश यहाँ भी है, पर अपने ढंग से। हिन्दी में इस तरह के मंच, मंच-गतियों, पात्रों के समूहों, संगीत, हँसी और रोशनियों के सामंजस्य और जटिल संरचना की कल्पना नहीं की जा सकती। यह नाटक देश, काल, भाषा की सीमा रेखाओं से परे है। इसके छुपे अर्थ इसके मंचनों से ही खुलेंगे। रंगमंचीय अर्थों और दृश्यों की बड़ी क्रियात्मक रचना यहाँ है, जो सामान्य की समझ से बाहर है। भुवनेश्वर कॉमेडी और ट्रेजिडी को बिलकुल घुला-मिला देते हैं—मानवीयता और अमानवीयता को इतना गड्डमड्ड कर देते हैं कि उससे भी एक चमक पैदा होती है। 'जेरूसलम को' गम्भीर विवेचन और मंचन की अपेक्षा रखता है और चुनौती देनेवाली रचना है।

1949 में 'विश्ववाणी' में प्रकाशित 'रोशनी और आग' भी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक एकांकी है, जो 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम की पृष्ठभूमि पर आधृत है। भुवनेश्वर ने हिन्दू-मुसलमान पात्रों के मजमे से बहुत से दृश्य रचे हैं। कभी वे भीड़ हैं, कभी आवाज़ों में बदल जाते हैं, ये आवाज़ें मौत, जंग, ताक़त और मज़हब की हैं। क्लाइव की आवाज़ भी आती है। उससे भुवनेश्वर एक रहस्य की सृष्टि करते हैं—"आज हिन्दुस्तान एक होकर हमारी मुख़ालफ़त कर रहा है। सीधे सिर पर वार करो। ऐ मेरे प्यारे हिन्दुस्तानियो, सीधे सिर पर वार करो।" यह आवाज़ अंग्रेज़ों की कूटनीति और भारतीय चरित्र दोनों को एक साथ संकेतित करती है—यही पराधीनता का असली कारण था। इसमें लेखक की नाटकीय क्षमता भी देखने को मिलती है और इतिहास और समय के प्रति उनकी गहरी समझदारी और दायित्व भी। नाटक के आरम्भ का रंग-निर्देश ही उनकी इस अर्थ-क्षमता और नाटकीय क्षमता का प्रमाण है। इस नाशकारी आग में रोशनी न थी और यह रोशनी मौत की सी ठण्डी थी—इस सच को भुवनेश्वर ने पहचान लिया था। भुवनेश्वर का उद्देश्य यह दिखाना है कि हर क्रान्ति के साथ सबके सपने जुड़े होते हैं। यहाँ भी किसी के लिए वह 'बंगाल की दीवानी' है, किसी के लिए 'तख़्तेताऊस'। भुवनेश्वर स्पष्ट व्यंग्य करते हैं, ये लोग क्रान्ति चाहते थे, फिर भी परिवर्तन नहीं चाहते थे, क्योंकि उनके अन्दर मौत बसी थी।" (*भुवनेश्वर की रचनाएँ*, शुकदेव सिंह, पृ. 89)

भुवनेश्वर के सारे एकांकी प्रयोगात्मक हैं और सामाजिक चेतना और नाट्यविधा के सामाजिक सरोकार की सजगता उनमें बहुत है। 'ख़ामोशी' (1957) भुवनेश्वर के प्राप्त नाटकों में अन्तिम माना जा सकता है। बच्चन सिंह ने 1957 में ही उसकी सीमा मान ली है। 'ख़ामोशी' में आर्थिक संकट अर्थनीति की ख़ामियाँ और शोषण के परिणाम हैं। मुक्तिबोध की तरह भुवनेश्वर ने फ़ैंटेसी का आधार लिया है। दो चित्र हैं—ये दोनों ही नाटक के बारे में हैं। एक चित्र के नीचे लिखा है 'इसने उधार बेचा', दूसरे में एक हँसते हुए व्यापारी के चित्र के नीचे लिखा है,

'हमेशा नक़द बेचा है।' ये दो कण्ट्रास्ट चित्र हैं और इन स्थिर चित्रों से एक मूर्त कल्पना संसार का अभिनय होने लगता है और सेक्स की व्याख्या भी। चित्रों का अभिनयात्मक क्रिया में, संवादों में बदल जाना, आक्षेप लगाना भुवनेश्वर की मौलिकता है। ये दोनों चित्र दो विरोधी सिस्टम हैं, जो आदमी का शोषण करते हैं। बार-बार इतनी विरोधी स्थितियाँ आती हैं कि दोनों एक-दूसरे को ख़ामोश करती रहती हैं। "भुवनेश्वर ने इस नाटक में अपने समय के अर्थतन्त्र को विश्लेषित, कण्ट्राडिक्ट करने का प्रयत्न किया था। 'ख़ामोशी' नाटक है, 'ख़ामोशी' क्रिया का दर्शन है, दर्शन की क्रिया है।" (शुकदेव सिंह—भुवनेश्वर : रचनात्मकता और गद्य की चरम पराकाष्ठा, '*भुवनेश्वर : व्यक्तित्व और कृतित्व*, पृ. 83)

एकांकी विधा को इतनी सघनता, सटीकता देना भुवनेश्वर की अपनी विशेषता है। एकांकी लेखन का जो गुण उनमें है, वह अकेला है, उनकी भाषा, उनके संवाद, एकांकी की पूरी संरचना, उसके चरित्र और उन चरित्रों की जटिलता, संकेत उनके बाद हिन्दी एकांकी में मिलते नहीं। एकांकी लेखन की जो अवधारणा और नाटकीय क्षमता का आद्यन्त निर्वाह जिस तरह वह 'ऊसर', 'ख़ामोशी', 'आज़ादी की नींद', 'स्ट्राइक' आदि में लेकर चलते हैं, वह उन्हें हिन्दी का अत्यन्त मौलिक और श्रेष्ठतम एकांकीकार बनाता है।

# 8

# 'ताँबे के कीड़े' : विश्व का प्रथम असंगत नाटक

समकालीन हिन्दी नाटक में विसंगति के नाटकों की धारा अलग विकसित दीखती है, जिसका मुख्य कारण नाट्यलेखन और रंगमंच का आधुनिक पाश्चात्य प्रभावों से प्रभावित होना है। वस्तुतः 'एब्सर्ड' एक विशिष्ट और दार्शनिक प्रयोग है। सबसे पहले मार्टिन एसलिन ने इस शब्द की, इसके दर्शन की विस्तृत व्याख्या की और नाटक को यह 'एब्सर्ड' शब्द उसने 1961 में दिया। *आक्सफ़ोर्ड डिक्शनरी* (1965) और द *पेंगुयन डिक्शनरी ऑफ़ थियेटर* (1966) में इस शब्द को परिभाषित किया गया है। द *पेंगुयन डिक्शनरी ऑफ़ थियेटर* में जॉन रसेल टेलर कहता है कि यह शब्द 1950 के नाटककारों के एक विशेष समूह से जुड़ा है—उन नाटककारों के समूह से जो अपने को किसी ख़ास स्कूल का नहीं मानते, जो सृष्टि में मनुष्य की स्थिति के बारे में भिन्न ढंग से सोचते हैं। वे मनुष्य की उद्देश्यहीनता, मूल्यहीनता, उसके अस्तित्व के संकट को देखते हैं। इनके विचार, चिन्तन और दर्शन नाटक के विषय और फ़ार्म दोनों को बदलते हैं—एक तार्किक विवाद-सा नाटक में चलता है।

इर्विंग वार्डिल के अनुसार 'एब्सर्ड' की विशेषताएँ हैं—बाहरी दुनिया के स्थान पर अन्दरूनी दृश्यों का चित्रण, फ़ैंटेसी और तथ्यों के बीच किसी भी स्पष्ट विभाजन का अभाव, समय के प्रति स्वतन्त्र दृष्टि—समय फैल सकता है, सिकुड़ भी सकता है, जो विषय की आवश्यकता पर निर्भर करेगा, उसमें एक बहता हुआ वातावरण होता है, जो दृश्यात्मक ढंग से मानसिक स्थितियों को प्रोजेक्ट करता है, जीवित अनुभव की त्रासदी के अनुरूप भाषा और रूपबन्ध में परिवर्तन। वस्तुतः इन नाटककारों में जीवन की निरुद्देश्यता और आदर्शों के खोने की स्थिति का चित्रण मुख्य है। जैसे कि सार्त्र और कामू में। ये दोनों 'एब्सर्डिटी' पर बहस नहीं करते, उसे प्रस्तुत करते हैं। वे ड्रामा और फ़ैंटेसी पर निर्भर करते हैं, पर काव्यात्मक संवादों को अस्वीकार करते हैं। उनके लिए एब्सर्ड थियेटर एक असाधारण तरीक़ा है, जिसमें मस्तिष्क की बहुत-सी परिचित रुचियाँ और साहित्यिक मुहावरे एक साथ गुँथे होते हैं। वह उस सृष्टि को देखने का एक तरीक़ा है, जिसने अपना अर्थ और लक्ष्य खो दिया है। उसकी पहली भूमिका व्यंग्यात्मक है, क्योंकि वह बेईमान समाज की कटु

आलोचना करता है। उसका दूसरा पक्ष है, समाज की आकस्मिक परिस्थितियों में आदमी का नंगा होते जाना। आदमी के अस्तित्व की समस्या उसकी मूल समस्या है—मृत्यु, अकेलापन। संवाद की स्थिति जैसे शेष नहीं रह गयी है और भाषा अर्थहीन हो गयी है। ब्रेख्त अगर दर्शक को, बौद्धिकता और तर्क को उत्तेजित करना चाहता था, तो एब्सर्ड नाटक दर्शक के मस्तिष्क के और अधिक गहरे सूत्रों से, स्तरों से बात करता है। वह दर्शक को चुनौती देता है—अर्थहीन में अर्थ खोजने की सचेतन रूप में स्थिति का सामना करने की, न कि उसे देखने और महसूस करने की। एब्सर्ड नाटक उस विसंगति पर ही हँसने का एक तरीक़ा है।

सार्त्र और कामू से भी पहले मालराक्स ने 1925 में कहा था कि यूरोपीय आदमी के सामने अनिवार्य विसंगति की स्थिति है। पश्चिम का आदमी असंगत जीव है। ईश्वर ही नहीं, मनुष्य भी मर गया है और शून्य के नीचे अकेला निरुपाय खड़ा है। 'एब्सर्डिटी' के लेखक और दार्शनिक सभी आत्महत्या को अस्वीकार करने और मृत्यु पर बल देने में एकमत हैं। मनुष्य के सभी कार्यों और अनुभवों में सबसे अलग तरह का अनुभव मृत्यु है। लगातार मृत्यु का सामना करना, उसकी उपस्थिति का एहसास बने रहना एक विचित्र, असाधारण अनुभव है, जिसे अभिव्यक्त करने के लिए हमारी भाषा नष्ट हो गयी है। इसीलिए स्थितियों के साक्षात्कार के दौरान भी आत्मजगत् और ईश्वर की प्रकृति जैसे प्रश्नों से सम्बद्ध रहते हैं। वे अगर स्वतन्त्र नहीं हैं तो केवल वहाँ से जाने के लिए। बैकेट ने *वेटिंग फ़ॉर गोदो* और *एडगेम* के द्वारा एब्सर्ड नाटक और रंगमंच को विश्वव्यापी पैमाने पर विकसित किया। हिन्दी नाटक और रंगमंच को भी इस मौलिक धारा से जोड़नेवाला बैकेट और उसका *वेटिंग फार गोदो* ही है। बैकेट प्लाट को एकदम अस्वीकार करता है, कोई कहानी नहीं, सिर्फ़ एक स्थिति होती है। कुछ नहीं होता, कोई नहीं आता, कोई नहीं जाता—यह ऐसी भयावह शून्य स्थिति है, जिसे बैकेट नाटक में अनुभव करा देता है। अंक एक और अंक·दो के बीच के अन्तर की स्थिति के वही रहने और होने पर वह बल देता है और इस तरह उस स्थिति को महसूस कराता है। मुक्ति की आशा में *वेटिंग फ़ॉर गोदो* के दो पात्र अपना समय खुली सड़क पर खेल खेलते बिताते हैं। दूसरे नाटक *एडगेम* में वे एक कमरे में बन्द होकर आख़िरी खेल खेलते हैं। बाहर की दुनिया मृत है, जड़ है। इन दोनों नाटकों में प्लाट और पात्रों का पूर्ण रूप नहीं है। आयनेस्को के नाटक मुख्यतः मृत्यु को लेकर चलते हैं। वह दुनिया को कठोरता, क्रोध, मूल्यहीनता, निरर्थकता से भिन्न नहीं देखता, क्योंकि वह कहता है कि उसके बचपन के अनुभव केवल पक्के हुए हैं, आयनेस्को मूलतः दो चीज़ों से सम्बद्ध है—एक मानवीय स्थिति और दूसरे उसका थियेटर में प्रस्तुतीकरण। इसके अतिरिक्त उसके सामने न कोई सामाजिक उद्देश्य होता है, न शब्दों में चिरपरिचित अभिव्यक्ति। इस एब्सर्ड दुनिया में वह सोद्देश्यता, सार्थकता, दायित्व के आदर्श को नहीं मानता।

वह जीवन और थियेटर में उसका भ्रम पैदा करनेवाला नाटककार है। वह कहता है कि विद्रोह का थियेटर पैदा करो, मनोविज्ञान का नहीं। वह भाषा को अपने स्थान से हटाना और अनुच्चरित होना भी मानता है। पुराने रूपबन्ध, कथानक, कथातत्त्व की पूरी उपेक्षा करके वह इस तरह नाटक रचता है कि लगता है कोई नाटक नहीं है, कोई ट्रेजिडी नहीं है। ट्रेजिडी कॉमिक को बदल रही है। कॉमिक स्वयं ट्रैजिक है और जीवन ज़्यादा प्रसन्न हो रहा है। उसकी 'द बाण्ड प्राइमा डोना' रचना एक अनाटक-जैसी है। दरअसल एब्सर्ड नाटक सामान्यतः बड़ा मज़ेदार, डरावना, दर्शक को आगे फेंकनेवाला, अपनी प्रतिक्रिया की व्यक्तिगत जानकारी के लिए मजबूर करनेवाला और कुछ विरोधी उल्टे विचार देनेवाला होता है। यह नाटक हमें निर्णय नहीं देता, संकेत करता है, उत्तेजित करता है, अपना फ़ैसला नहीं सुनाता। भाषा भी ओढ़ी हुई नहीं होती। शब्द शुद्ध ध्वनियों में शेष रह जाते हैं, जैसे आयनेस्को के 'द चेयर्स' में केवल वक्ता दिखायी देता है, लेकिन वह गूँगा है, क्योंकि ज़िन्दगी का सन्देश दिया कैसे जा सकता है और कौन उसे एक वाक्य में कह सकता है?

इस प्रकार विसंगति के नाटकों में यद्यपि इतिहास, संस्कृति, परम्परा सामाजिक रूढ़ियों या किसी विचारदर्शन के प्रति विद्रोह का भाव नहीं मिलता, लेकिन जीवन और साहित्य के प्रति सर्वथा परिवर्तित दृष्टि के कारण एब्सर्ड नाटककारों का नाट्य लेखन शैली-शिल्प की दृष्टि से एकदम उल्टा, नया हो गया। ये नाटक कथानक विहीन होते हैं—उनमें तीन अंकों का कोई विभाजन नहीं है, क्योंकि इनके नाटककार जन्म और मृत्यु के बीच के कालखण्ड को अंकहीन मानते हैं। जीवन कभी भी शुरू हो सकता है, कभी भी समाप्त, इसलिए इन नाटकों में 'सुखान्त' या 'दुखान्त' की कोई चिन्ता नहीं है, न चरमसीमा का कोई महत्त्व है और न कथानक के आरम्भ, मध्य, अन्त का और न ही कोई निश्चित समाधान। इनके पात्र भी नायकत्व से अलग ऊबे, परेशान, थके, पागल-से हैं, इसलिए उनके नाटकों में न कोई निश्चित अन्त होता है, न क्रमिक विकास, बल्कि वे ऊलजलूल स्थितियों के ताने-बाने से बुने और हरकत भरे नाटक होते हैं—अत्यन्त व्यंजनापूर्ण। एब्सर्ड नाटक पूर्व प्रचलित फॉर्स और ट्रेजिडी, कॉमेडी के परम्परागत रूप में एकदम भिन्न लिखा गया। रंगमंच पर भी परम्परागत प्रस्तुतीकरण से उसका ढंग स्वतः एकदम बदल गया। नाटकीय अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकात्मक ढंग अपनाना और निरन्तर सांकेतिक अभिव्यक्ति करना इन नाटकों की विशेषता है। नाटककार के विचारों को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करने में ही इन नाटकों का 'एक्शन' है। पहली बार ये नाटक तर्कहीन लगेंगे, लेकिन बाद में अनुभव होगा कि लेखक के विचार प्रत्यक्षतः नहीं व्यक्त किये गये, बल्कि एक्शन में प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त किये गये हैं, इसलिए संवाद और भाषा वहाँ गौण हो जाते हैं। आयनेस्को आदि सभी एब्सर्ड नाटककार अभिनेता और रंगमंच को बनावट के बन्धनों से मुक्त करने और अभिनेता की कल्पना-शक्ति की

स्वतन्त्रता को बाँध लेने में विश्वास करते हैं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि आदमी के प्रत्यक्षीकरण, अभिव्यक्ति, आत्मसाक्षात्कार की शक्तियाँ, उसके वैयक्तिक से सीमित होती जाती हैं। एब्सर्ड नाटक में मुख्य शक्ति दर्शक को सतर्क एवं सजग करने की है। प्रतीकों के प्रति सजगता उसमें बराबर विश्लेषण शक्ति पैदा करती है।

पश्चिम में एब्सर्ड नाट्यधारा के आरम्भ होने से भी पहले हिन्दी में भुवनेश्वर ने वर्तमान युग की ट्रेजिडी को और उसके विरुद्ध निश्चित साँचे में ढली हुई उसकी अभिव्यक्ति, नाटक के विरोधाभास को अनुभव कर लिया था। उन्होंने महसूस किया कि "विवेक और तर्क तीसरी श्रेणी के कलाकारों के चोर दरवाज़े हैं।" उन्होंने विश्वमानव की पीड़ा, अव्यवस्था और विघटन, भय और निराशा, टूटते मानवी रिश्तों के दर्द को अनुभव किया, जो उनके 'ताँबे के कीड़े' में तीखेपन के साथ व्यक्त हुआ! 'ताँबे के कीड़े' की तिलमिलाहट, आदमी की बेचैनी, उलझन-अकेलापन, तनावपूर्ण वातावरण, शिल्प का नयापन और आक्रामक चित्र एब्सर्ड नाट्य परम्परा का सशक्त उदाहरण है। चूँकि हिन्दी में उस समय न रंगमंच था, न सही समीक्षक, न रंगकर्मी का कोई अस्तित्व था, न निर्देशक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व, इसलिए यह नाटक विश्व-सन्दर्भ में अपना पृथक् स्थान रखते हुए भी अजनबी, अलक्षित-सा रह गया। उस समय भुवनेश्वर को 'पागल' कहकर और 'ताँवे के कीड़े' को ऊलजलूल रचना कहकर छोड़ दिया गया। नितान्त प्रयोगशील और संश्लिष्ट संवेदनाओं के इस नाटक में नाटक को रचनाबद्धता से मुक्त करने की रचनात्मक आकुलता मौजूद है। सब कुछ असम्बद्ध-सा है, क्योंकि विश्वयुद्ध ने हमें यह एहसास करा दिया कि दुनिया में हमारा अस्तित्व ऊलजलूल है—हम बिना किसी के कहे पैदा हो गये हैं और बिना खोजे मृत्यु हमें मिल जाती है। हम अपने शरीर और बुद्धि में लिपटे जीवन और मृत्यु के बीच ज़िन्दा रहते हैं। हम अपनी शक्ति का अनुभव करते हैं। लेकिन हमारी हर रचना नष्ट हो जाती है, जैसे स्वयं हम। सब कुछ अनिश्चित है, इसलिए नाटक भी अनिश्चितता और अर्थहीनता से भरा हुआ है। स्वप्न, फ़ैंटेसी, मृत्यु और भय उसके अनिवार्य अंग हैं। अगर संसार में मनुष्य जीवित प्राणी न रहकर मात्र एक चीज़ बनकर रह गया है, तो नाटक में भी व्यक्तित्व नाम की चीज़ कितनी निरर्थक है। 'ताँबे के कीड़े' इसलिए नायकत्वहीन रचना है। मंच पर केवल एक ही पात्र है—शेष सभी पात्र रिक्शावाला, अफ़सर, मसरूफ़ पति, परेशान रमणी, पागल आया, निर्मला—मंच पर नहीं आते। उनके नेपथ्य स्वर की ही उनकी उपस्थिति और उनकी 'ट्रेजिडी' का आभास कराते हैं। लेकिन चूँकि आदमी को जीना है, जीने के लिए दिल बहलाने के लिए वह परिवर्तन चाहता है। इन सारी स्थितियों को गहरी मानवीय करुणा और तीव्र संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। भुवनेश्वर ने सम्भवतः बड़ी गहराई से यह अनुभव कर लिया था कि आज के युग में आदमी सिर्फ़ देख सकता है, सुन सकता है, सोच नहीं सकता, सोचा कि अचेत हुआ। शरीर और

दिमाग़ दोनों एक साथ सम्भव नहीं हैं। समझने की शक्ति चुक गयी है। समझने की इच्छा, मानवीयता भी शेष नहीं रह गयी है। इसलिए समझना भी सुनने के बराबर ही है।

'ताँबे के कीड़े' तत्कालीन प्रचलित नाट्य शैली शिल्प से सर्वथा भिन्न प्रकार की रचना है, एक नितान्त प्रयोगशील और संश्लिष्ट संवेदनाओं का नाटक—अपने संक्षिप्त रूप में एक लम्बा पूरा नाटक। यह नाटक को उसके रचना-बन्ध से सर्वथा मुक्त करता है और अस्त-व्यस्त समाज की पीड़ा को, अन्तर्व्यवस्था को चारों ओर व्याप्त असमानता को, विघटन को बड़े तीखेपन और बड़ी गहरी करुणा के साथ निर्बन्ध होकर व्यक्त करता है। शब्दों में बताने के लिए इसका कोई कथानक नहीं है, घटनाएँ नहीं हैं, न कथानक का क्रमिक विकास ही, बल्कि सब कुछ असम्बद्ध-सा है, क्योंकि विश्व-युद्ध ने मनुष्य को यह एहसास करा दिया कि दुनिया में हमारा अस्तित्व ऊलजलूल है। इसलिए नाटक में भी न कथानक का आरम्भ है, न मध्य, न विकास, न अन्त। इसमें किसी युग विशेष का, या किसी सामाजिक पक्ष का चित्रण नहीं है, बल्कि जीवन की अर्थहीनता, विचारों का खोखलापन, एक करुण मानवीय स्थिति मस्तिष्क पर छाती चलती है। इस संसार में आदमी का अकेलापन नाटककार को कचोटता है और वह इस सारे सत्य से, स्थिति से सीधे सचेतन रूप में दर्शक का सामना कराना चाहता है।

भुवनेश्वर ने महसूस किया था कि आदमी अब एक जीवित प्राणी न होकर एक चीज़ रह गया है, इसलिए नाटक में भी व्यक्तित्व नाम की चीज़ कितनी निरर्थक है। स्थिति एकदम उलट गयी है। ट्रेजिडी कामेडी में बदल रही है और कामेडी ट्रेजिडी में। आयनेस्को ने कहा था कि मुझे लगता है कि जो कॉमिकल है, वह ट्रेजिडी है, क्योंकि आधुनिक आलोचनात्मक स्वभाव में कोई चीज़ न एकदम गम्भीरता से ली जा सकती है, न एकदम हलकेपन से। ऐसी स्थिति में नायक का क्या अस्तित्व है? न कोई अच्छा है न बुरा, न नैतिक है, न अनैतिक, आज की दुनिया में हर चीज़ का समान मूल्य है।

'ताँबे के कीड़े' नायकत्वहीन रचना है। मंच पर केवल एक ही पात्र है—अनाउन्सर, जो स्त्री है—रंग-बिरंगे शोख़ कपड़ों में, हाथ में बड़ा-सा झुनझुना लिये। शेष पात्र हैं रिक्शावाला, थका अफ़सर, मसरूफ़ पति, परेशान रमणी, पागल आया और निर्मला, जो मंच पर नहीं आते, उनके स्वर सुनाई देते हैं। इन सभी पात्रों में, इनके स्वरों में ऊपरी तौर से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, कोई क्रम या सिलसिला नहीं, बेतरतीब लेकिन उसी में इन्सान की, हर वर्ग की गहरी अन्तर्व्यथा छिपी हुई है। रिक्शे की घण्टी के साथ रिक्शेवाले का स्वर उभरता है—"बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूँ। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। मैं आईने में अपना मुँह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का

शासन होगा। आईने अब उगने और न उगनेवाले बीज अलग-अलग कर देंगे।" इन पंक्तियों में कोई संवादात्मक तारतम्य न होते हुए भी उस वर्ग की पीड़ा आज के जीवन की कृत्रिमता, असमानता, भेद-दृष्टि सबका संकेत है। तभी एक थके हुए अफ़सर का ऊँघा हुआ स्वर सुनाई देता है—और रिक्शावाला टकरा जाता है "आह अफ़सर! आगे देखकर चलो, तुमने मेरा एक आईना तोड़ दिया।"

भुवनेश्वर ने दोनों वर्गों की लाचारी, पीड़ा और थकान को पकड़ा है। व्यंग्य मात्र उनका उद्देश्य नहीं है। निराला की 'तोड़ती पत्थर' की तरह यहाँ भी मानवीय संवेदना का घनीभूत रूप है, जिसमें अभिव्यक्ति भी बहुत सहायक हुई है। तभी एक साधारण, अलसाई, ऊबी हुई स्त्री का स्वर आता है, जो चुपके से सारे संसार को मथना चाहती है, जिसके पास अपने पति की रोमांटिक बातें सुनने का समय नहीं है, क्योंकि वह समझती है कि तहज़ीब याफ़्ता सर्दी में आदमी की फ़ीलिंग्स भी जम जाती है। उसने पति के प्रशंसात्मक कथनों को सुना ही नहीं, क्योंकि शब्द सुन्दर तो थे, लेकिन फ़ीलिंग्स से अलग सुन्दर शब्दों की क्या सार्थकता है। वह चाहती है, आदमी अपनी आत्मा को मथे, लेकिन उसका मसरूफ़ पति डरकर कहता है—"मथना। तुम ऐसे ग़ैर रियाज़ शब्द क्यों बोलती है। हालाँकि वह यह भी तय करता है कि वह अजनबियों की भाषा बोलेगा। शरीर को दिमाग़ के बन्धनों से अलग कर देगा, लेकिन यह कहते हुए उसका स्वर डूबता चला जाता है।"

भुवनेश्वर ने यहाँ प्रचलित भाषा पर ही चोट नहीं की है, आज की हृदयहीनता, अजनबीपन से उत्पन्न मानव पीड़ा को, उसकी मजबूरी को भी अभिव्यक्त किया है। बैकेट के नाटकों में पात्र यान्त्रिक कठपुतलों की तरह आते हैं, किसी भूमिका को खेलने के लिए नहीं। चूँकि वे हैं, इसलिए उन्हें अपने को स्पष्ट करना चाहिए, बिना किसी पाठ को ध्यानपूर्वक याद किये हुए। वे स्वतन्त्र हैं। केवल वहाँ से जाने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। उन्हें सोचना है, वे क्या करें, लेकिन उनकी स्वतन्त्रता का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि आविष्कार करने को कुछ नहीं, इसीलिए उनकी बातचीत बेतुके वार्तालाप में, अपने आप निकलते वाक्यों के आदान-प्रदान में, शब्दों में, खेलने में सीमित हो जाती है। वे हैं, इसलिए उन्हें प्रतीक्षा करनी ही है। वे नायक या नेता नहीं हैं, क्योंकि इस अर्थहीन दुनिया में उन्हें फेंक दिया गया है। यद्यपि वे छटपटाते हैं कि अर्थहीन परिस्थितियों में भी ज़िन्दगी का कोई अर्थ होना चाहिए, इसलिए वे खुली सड़क पर गोदो का इन्तज़ार करते रहते हैं।

यही स्थिति भुवनेश्वर के पात्रों की है। चूँकि आदमी को जीना है, जीने के लिए, दिल बहलाने के लिए वह परिवर्तन चाहता है। मसरूफ़ पति इसीलिए शराब पीता है, लेकिन जब स्त्री उससे कहती है "तुमने फिर शराब पी, तुममें कोई कैरेक्टर नहीं है। तुम आदमी से खींचे जानेवाले रिक्शे पर भी बैठ सकते हो।" तो लगता है कि कैरेक्टर शराब पीने से उतना नहीं, जितना इन्सानियत को भुला देने से गिर

गया है। यहीं भुवनेश्वर विशिष्ट हैं। यह मानवीय करुणा ही उनके संवेदनशील व्यक्तित्व को अधिक रचनात्मक बना सकी है। थका अफ़सर, जो कहता है कि "मैंने जवानी में हज़ारों खोपड़े चटकाये, पर अब सिर्फ़ उँगलियों को चटकाता हूँ... कभी-कभी मज़ाक़ में भी चटका लेता हूँ, लेकिन अब कुछ सोचते ही बेहोश हो जाता हूँ।" चूँकि सोचना असम्भव है, इसलिए मसरूफ़ पति कल्पना लोक में दूर ऊनी बादलों के स्वप्निल लोक में भटकता है। बच्चे अभी अनुभव से पके या थके नहीं हैं, इसलिए मोर उनके सिर मोर ही है, वह भौंकता कहाँ है। लेकिन अनुभवी थका अफ़सर गम्भीर हो जाता है, क्योंकि यह सत्य है कि मोर भौंकता है और तभी परेशान रमणी भौंककर कहती है, "मुझे नहीं मालूम, मैंने तुमसे शादी क्यों की?" मतलब वैवाहिक सम्बन्धों की विडम्बना की ओर भी, बदलते सम्बन्धों की ओर भी भुवनेश्वर का ध्यान गया। पुरुष स्वयं तो देखता है, लेकिन नहीं चाहता कि पत्नी भी देखे, बल्कि वह केवल सुने। पुरुष सब समझ रहा है, लेकिन वह कहता है, "देखो, मैंने सब सुन लिया न!" यानी समझने की शक्ति चुक गयी है, समझने की इच्छा मानवीयता भी शेष नहीं, इसलिए समझना भी सुनने के बराबर ही है। विश्वयुद्ध के बाद व्याप्त भय को भुवनेश्वर ने महसूस किया, लेकिन उन्हें लगा कि भय से भागना ठीक नहीं, उसे उखाड़ फेंकना भी सम्भव नहीं, मसरूफ़ पति कहता है, "नहीं ...मुझे ज़रूर नशा करना चाहिए। क्या मुसीबत है...संसार में भय के नाश करने का मतलब है संसार का नाश करना।" परेशान रमणी—"लेकिन तुम भय पैदा ही क्यों करते हो। मालूम होता है तुम सिर्फ़ भय-ही-भय खाते हो।" मसरूफ़ पति हिकारत से हँसते हुए कहता है, "तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा। तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन...करना होगा।" परेशान रमणी रिक्शेवाले को दिन भर जाड़े-पाले में दौड़कर उसके धीरे चलने पर उसे ठोकर मारकर गिरा देती है और उसका मसरूफ़ पति कहता है, "यह आदमी देखता नहीं था। आगे देखकर नहीं गया। ठोकर लग गयी। मैं नाश करता हूँ।" लेकिन रिक्शेवाला गर्व से कहता है, "नहीं हमको पीछे से ठोकर लगायी गयी।" मैंने रिक्शे के आईने में साफ़ देखा, शायद वह ठोकर अब तक दिखायी दे रही हो—यानी मज़दूर वर्ग अपनी नियति से विवश है। वह सब देखता और समझता है, निर्मम चोट मन पर लगातार पड़ती रहती है। यही भुवनेश्वर के लिए रचना और नाश करना दोनों है। वर्गभेद से अधिक डूबती हुई मानवीयता को दिखाना उनका उद्देश्य है।

यह नाटक बहस नहीं करता, केवल प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत करने में जितनी सहायक ये बेतुकी स्थितियाँ, पात्रों की बेतुकी बातचीत हो सकी है, उतनी ही सहायक भाषा भी। यही नहीं कि भाषा बोलचाल की है, बल्कि बड़े गहरे अनुभव और व्यापक नाट्यानुभूति से जन्मी हुई है—बहुत ही सांकेतिक शब्द जैसे कई ध्वनियाँ देनेवाले हैं।

अनाउंसर का हँसाना और झुनझुना बजाना, थके अफ़सर की सीटी बजाने को तैयार होना केवल हरक़त मात्र नहीं है। उसके पीछे अर्थ भी है। 'ताँबे के कीड़े' की भाषा इस सत्य का सशक्त उदाहरण है कि नाटक भाषा में बनता भी है और भाषा को बनाता भी है, कि नाटक की भाषा पूरे साहित्य की भाषा को बदल सकती है, नया रूप दे सकती है। भुवनेश्वर की भाषा उनकी मानवीय संवेदना, अनुशासन और तीखी नाट्यानुभूति से बन सकी है। एक स्थान पर सब मिलकर विद्रोह करना चाहते हैं, लेकिन विद्रोह के नाम पर गोलमाल हो जाता है, जिसे अनाउंसर कई बार झुनझुना हिलाकार शान्त करना चाहती है, लेकिन गोलमाल चलता रहता है, क्योंकि आदमी के अन्दर विद्रोह भरा हुआ है। बाद में सब स्वर दब जाते हैं, क्योंकि चाहते हुए भी मनुष्य विद्राह करने में असमर्थ है। उस ज़माने में जब हिन्दी नाटक में रंग-संकेत भी पाठ्य ज़्यादा हुआ करते थे और तब थोड़ा-बहुत अश्क को छोड़कर रंगानुभूति, नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्ध को और नाटक को एक सशक्त जीवन्त कला के रूप में कोई भी अनुभव नहीं कर पाया था, भुवनेश्वर की मौलिकता और नाटकीय समझ विस्मित कर देती है। उन्होंने कई मायनों में अपने युग की सीमाओं को तोड़ा। आज के नाटककार की तरह हिन्दी रंगमंच और हिन्दी नाटककार की दयनीय स्थिति से अवगत थे, स्वयं उसके भोक्ता थे। उन्होंने आज से वर्षों पहले ही यह समझ लिया था कि एक नाटक का लिखना, जो स्टेज के लिए नहीं लिखा गया, किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं है। 'रंगमंच' उनके लिए जीवन में एक चुनौती था। 'ताँबे के कीड़े' निर्देशन और अभिनय की दृष्टि से बहुत-सी सम्भावनाएँ लिये हुए है। यह अपने आप में एकपात्रीय नाटक भी है, लेकिन सभी पात्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत करके भी नया प्रयोग किया जा सकता है और इसके अतिरिक्त केवल प्रतीकों के सहारे भी मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इसलिए कहीं भी खेला जा सकता है, खुले मैदान में, बन्द हॉल में, ड्राइंगरूम में या क्लासरूम में भी। बैकेट और जेने के नाटक अभिनेताओं की कल्पनाशीलता की छूट के लिए प्रसिद्ध है, आयनेस्को के पात्र एकदम कठपुतली की तरह लेखकीय विचारों के गुलाम लगते हैं।

भुवनेश्वर ने कल्पना शक्ति को उकसाने के बहुत अवसर दिये हैं। कहने का मतलब यह है कि प्रयोगशील मंच की स्थापना का प्रयत्न भुवनेश्वर ने किया था, निर्देशक और अभिनेताओं की कल्पनाशीलता, विचार शक्ति और प्रयोगात्मकता की सम्भावनाएँ उनके सामने स्पष्ट थीं। उनकी अनाउंसर सूत्रधार का ही एक नया रूप है, जो आद्यन्त बड़ी सक्रिय है और जीवन्त है। वह दर्शकों से सीधे बातचीत करती है। उसकी बातों में दर्शक की प्रतिक्रिया भी सुनायी देती है। नाटक का अन्त होने पर वह इठलाती हुई हँस रही है और झुनझुना कमरबन्द में अटका लेती है। वह आदमी की नियति को भी समझ रही है और दर्शकों के विरोध और प्रतिक्रिया को भी, क्योंकि नाटक का अन्त किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर या किसी प्रश्न का उत्तर

देकर नहीं हुआ। इसीलिए वह कहती है, "नहीं, अभी ख़त्म कहाँ हुआ। अभी तो दो मिनट का एक नाच-गाना और है।" न जाने इस गाने से अन्त करने में नाटक लिखनेवाले का क्या मतलब है। मेरी समझ में तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखनेवाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि "ज़िन्दगी और नाटक का प्राब्लेम एक ही है, यानी लमहे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उसमें एक केन्द्रीय महत्त्व यानी सेण्ट्रल सिग्नीफ़िकेन्स हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाएँ।" यह कहते ही वह हँसती है—यानी नाटककार प्रचलित नाट्य परम्परा से हटकर दर्शकों को उकसाकर नाटक में शरीक करना चाहता है, लेकिन वह परम्परा के अभ्यस्त दर्शक की प्रतिक्रिया से भी परिचित है, इसलिए एनाउंसर आगे कहती है—"लेकिन यह सब बेबात की बातें हैं।—मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरोटिक है।...इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें ख़ामख़ाह भ्रम में डाल रहा है।" और इसी के बाद रिक्शेवाला मंच पर आकर घुंघरू पैर में बाँधे जोकरों की तरह दर्शकों को हँसाने की कोशिश करता है। भद्दी लय में गीत और उछल-कूद जैसा नाच। नाटक के आरम्भ और अन्त में कोई सम्बन्ध नहीं, लेकिन पूरे नाटक में ग़ज़ब की सांकेतिकता है, अभिव्यक्ति का नयापन है, थोथा यथार्थ, सतही आधुनिकता और बनावटी शिल्प नहीं, संवाद भी अपने में पूरे, सारगर्भित, क्रमबद्ध नहीं हैं, अधूरे, असम्बद्ध, उपर से अर्थहीन और बेतुके, कम-से-कम हिन्दी में इस ढर्रे का सशक्त नाटक देखने में नहीं आता, यद्यपि मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकान्त वर्मा, शम्भूनाथ सिंह, लक्ष्मीनारायण लाल में कुछ नाट्य प्रयोग हिन्दी में किये हैं, लेकिन वे प्रयोग ही अधिक लगते हैं, अभिव्यक्ति का कौशल वहाँ मुख्य लगने लगता है या बाह्य प्रभाव उन पर स्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। इस स्तर का संवेदन, विश्व युद्ध के बाद मनुष्य की स्थिति का ऐसा तीखा अनुभव और उससे उत्पन्न सर्वथा नया रूपबन्ध उनमें नहीं है। उनका क्रान्तिकारी स्वभाव परम्परा और रूढ़ियों को तोड़ने का, स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धों को स्वीकार करने का सर्वत्र देखा जा सकता है। सभी में स्वार्थ पर टिके मानव-स्वभाव को व्यंग्य के साथ बख़ूबी अभिव्यक्त किया है।

भाषा को एकदम बदलकर मानवीय स्थितियों को पूरी संवेदना के साथ प्रस्तुत करने में 'ताँबे के कीड़े' बेजोड़ हैं। वह लेखक की उस सार्थकता का उदाहरण है, जो अपने युग के प्रश्नों को केवल युग के प्रश्न कहकर नहीं छोड़ देती, बल्कि उन्हें नाटक के साहित्य के प्रश्नों में बदल देती है। उस समय जबकि जयशंकर प्रसाद की परम्परा में चलनेवाले सेठ गोविन्द दास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट आदि के नाटक सांस्कृतिक दृष्टि से परिचालित थे। विचार, समस्या, तर्क, आधुनिकता के नाम पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के विचारोत्तेजक नाटक थे और अधिकांशतः नाटक प्रायः

पाठ्य ही हुआ करते थे। केवल अश्क के नाटक या एकांकी ही रंगमंच के निकट थे, लेकिन वह भी मध्यवर्गीय समाज से बँधे हुए थे, उस समय भुवनेश्वर का व्यक्तित्व अकेला है, बल्कि अपने समकालीन साहित्यकारों में वह विशिष्ट कहे जा सकते हैं। उस समय की साहित्यिक परिभाषा में वह फ़िट नहीं बैठते थे। जो जीनियस के लक्षण थे, वे 'पागलपन' के लक्षण माने गये। लेखन ऊलजलूल माना गया, लेखक गुमनाम हो गया। यह समय से पहले पैदा होने का दण्ड था। अनुकूल समय आने की वह प्रतीक्षा नहीं कर सके, अन्यथा तीस वर्ष पहले ही हिन्दी नाटक जिस रचनात्मक अनुभव तक पहुँच गया होता, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। आज हिन्दी नाटककारों में मोहन राकेश अकेले सशक्त नाटककार दिखायी देते हैं। निस्सन्देह, उनमें नाटय-प्रतिभा थी, मानवीय संवेदना थी, समर्थ नाट्य-भाषा, नाटकीय स्थितियों और रंगमंच की पूरी समझ थी और उनके तीन नाटकों ने ही हिन्दी नाटक और रंगमंच को बहुत-सी सम्भावनाएँ दीं, लेकिन यह भी सही है कि समय ने भी उनका साथ दिया—उचित समय पर उचित नाटककार ने जन्म लिया, उन्हें रंगकर्मी मिले, अभिनेता समुदाय मिला, नया नाट्य समीक्षक मिला यानी उनकी लेखन-शक्ति को पहचाना भी गया और उसे विकसित होने के अवसर भी मिले। भुवनेश्वर के पास दो ही चीज़ें थीं, बेरोज़गारी और साहित्य-सृजन, जो संस्मरण बनकर रह गये हैं। उनका अप्रकाशित साहित्य भी अगर प्रकाश में आया होता और उनके समय में ही उनकी साहित्य-प्रतिभा को, चिन्तन को क्रान्तिकारी मनःस्थिति को, ईमानदारी को पहचाना गया होता, तो नाटक, रंगमंच, नाट्य भाषा, नाट्य समीक्षा सभी के मानदण्ड तो बदल ही गये होते, बल्कि पूरे हिन्दी साहित्य में एक मोड़ पैदा हुआ होता, क्योंकि उन्होंने यह बहुत पहले समझ लिया था कि जीवन के मर्म के कितना निकट आया जा सकता है कि जीवन को लटकों और फ़ार्मूलों में नहीं बाँधा जा सकता कि जीवन की ठोस बातें शब्दों की आँधी में नहीं आ सकतीं कि भावुकता एक भद्दा हथियार है क्योंकि एक्शन से, व्यवहार से, संकेतों से बहुत कुछ कहा जा सकता है। भुवनेश्वर अपने युग के सन्त्रास, भय, आतंक और पीड़ा को पहचानते हुए भी अलग, मौलिक, आधुनिक और आगे आनेवाले मूल्यों के प्रति आगाह करनेवाले साहित्यकार थे।

हिन्दी में असंगत नाटकों का शैली, शिल्प, इतिहास भुवनेश्वर ने आरम्भ किया, जिसे समय आने पर विपिन कुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा, सत्यव्रत सिन्हा आदि ने विकसित किया। छठे दशक में असंगत नाटकों का रंगमंच भी पनपा। 'तीन अपाहिज़', 'कॉफ़ी हाउस में इन्तज़ार', 'रोशनी एक नदी है', 'अमृत-पुत्र' में उसके रूप मिलते हैं, पर ये भी 'ताँबे के कीड़े' से आगे नहीं जा सके।

# 9
# रंगमंच और भुवनेश्वर

भुवनेश्वर के एकांकी और नाटकों को रंगमंच नहीं मिला। जब भुवनेश्वर इतने नये, मौलिक नाटक लिख रहे थे, तब हिन्दी में रंगमंच का अस्तित्व लगभग नहीं के बराबर था और साहित्य में इसीलिए नाट्यसमीक्षा भी सर्जनात्मक समीक्षा के रूप में विकसित नहीं हो पायी थी। स्वयं भुवनेश्वर भी बराबर एक विवादास्पद व्यक्तित्व बने हुए थे। उसके हृदय की मानसिकता एक प्रकार से रंग-विरोधी थी और लगातार पाठ्यक्रमीय, साहित्यिक नाटक लिखे जा रहे थे। चूँकि भुवनेश्वर द्रष्टा रचनाकार थे और उनके पास नाटक की समग्र दृष्टि थी, इसलिए वह समग्र अर्थ में नाटक लिख रहे थे। उनकी स्वयं की मान्यता थी कि "एक नाटक का लिखना, जो स्टेज के लिए नहीं लिखा गया, किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं है।" वह अच्छी तरह समझ रहे थे कि "हिन्दी स्टेज के माता-पिता ने अभी अपना परिणय भी आरम्भ नहीं किया है।" (*कारवाँ*, प्रवेश)

भुवनेश्वर रंगमंच को जीवन के लिए एक चुनौती मानते हैं। इसीलिए उन्होंने छायावाद युग की भावुकता का भी विरोध किया और लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक की स्थूलता का भी। नाटक दृश्य है। उसमें केवल कथन का कोई महत्त्व नहीं। "हिन्दी में समस्या नाटककारों का केवल एक सहज आदर्श है। उनके कथोपकथन में 'समस्या' शब्द आ जाना।" (*कारवाँ*, प्रवेश) समस्याएँ बनाना और सुलझाना उनके लिए एक अय्याशी है। उस समय के साहित्य और समीक्षा में भुवनेश्वर के इस रंग-सर्जक के व्यक्तित्व की कोई परिकल्पना नहीं थी और नाटक एक ढाँचे से, सधे-सधाये फ्रेम से बँधा था। भुवनेश्वर की इस पैनी रंग-दृष्टि की पहचान तो हुई ही नहीं, बल्कि उन्हें पाश्चात्य नाटकों के अनुकरण का आरोप लगाकर छोड़ा जाता रहा। उनकी मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाकर छोड़ दिया गया। बुद्धिवाद, सेक्स, फ्रायडवाद, बर्नार्ड शॉ, इब्सन, यूरोपीय वस्तुवाद, पश्चिमी शिल्प, आदि के अनेक आरोपों में उनकी नाट्य सम्भावनाएँ बिलकुल दब गयीं। उस समय के प्रसिद्ध एकांकीकार, नाटककार रामकुमार वर्मा के नाटक अपनी ऐतिहासिक और भारतीयता में हिन्दी पाठ्यक्रम, समीक्षा-जगत में, रंगमंच के फुटकर रूप में केन्द्र में थे, पर भुवनेश्वर की विलक्षण प्रतिभा उस समय पकड़ में नहीं आयी। वर्षों बाद

कृष्णनारायण कक्कड़ के प्रयासों से, विपिन कुमार अग्रवाल के पुनर्मूल्यांकन और शुकदेव सिंह के सम्पादन, अन्वेषण और आकलन से भुवनेश्वर के नाटकों पर रंगकार्य हुआ और उनका रंगमंच पहचानने की कोशिश की गयी।

भुवनेश्वर का कोई बँधा रंगमंच नहीं था। हम उसे क्लासिक मंच, लोकमंच, या अन्य रंग विधानों में नहीं रोक सकते। वह तो रंगमंच और नाटक दोनों की रूढ़ियों को तोड़ रहे थे। जो लोग यह कहते हैं कि उन्होंने जिस रंगमंच को अपने नाटकों का आधार बनाया, वह हिन्दी में था ही नहीं, इसलिए उनके नाटकों को मंचित होने का अवसर उन दिनों नहीं मिला—वह ग़लत है। सच तो यह है कि हिन्दी रंगमंच की अपनी प्रकृति या अपनी सत्ता बन ही नहीं पायी थी, इसलिए उनके इस तीखे यथार्थवादी रंगमंच की और आगे असंगत रंगमंच की परिकल्पना कल्पनातीत थी। स्वयं भुवनेश्वर अच्छी तरह समझ रहे थे कि "जनता यथार्थवाद से चिढ़ती नहीं, भय खाती है।" और रंगमंच साक्षात्कार का माध्यम होने के कारण और भी ज़्यादा आतंकित करता है। भुवनेश्वर के एकांकी अपने रंग-शिल्प में इतने सघन, जटिल और तीव्र हैं कि उनमें से 'रंगमंच' को निकालने की आवश्यकता होती है। ड्राइंगरूम होना, न होना अर्थात् दृश्य, पदार्थ या उपकरण या घटनाएँ होना, न होना उतना अर्थ नहीं रखते, जितना रचना की पूरी संरचना में आरम्भ से अन्त तक एक अनहोनी स्थिति का, आकस्मिकता का, एक तटस्थता और तन्मयता, एक निर्मम शॉक और संवेदना का एक साथ महसूस होना, होते रहना—अपने आप उस रचना को 'नाटक' बनाता है। विरोधाभासों से, वैषम्य से, कार्यों से निरन्तर उनका नाटक गतिशील रहता है। भले ही वह अपने नाटकों से पाठक और जनता का मनोरंजन न करें, पर वह लगातार अन्तर्मन को उद्वेलित करते रहते हैं और कुछ भी समझाने के लिए रुकते नहीं, चिंगारी छोड़ आगे चलते जाते हैं।

हिन्दी में भुवनेश्वर आज अकेले ऐसे नाटककार कहे जा सकते हैं, जो नाटक शुरू होते ही, उसी क्षण से लगातार दर्शक को अपने साथ-साथ लेकर चलते हैं, और उसके विचारों को उत्तेजित करते चलते हैं पर प्रगतिवादी नाटकों या किसी नुक्कड़ नाटक की तरह नहीं। यह उनके नाटक की संरचना का एक अनिवार्य पक्ष है और यह सूक्ष्म संवेदना और संवेदना, भाषा, शिल्प की संश्लिष्टता से जुड़ा हुआ है। रंगमंच इसी के भीतर से, अनेकस्तरीय व्यंजनाओं, क्रियाओं, संकेतों, ध्वनियों, गतियों से पैदा होता है। लेखक, उसके पात्र, स्थितियाँ सब दर्शक को उकसाते चलते हैं। यह एक भिन्न प्रकार का मनोरंजन, आनन्द या आस्वाद है, जिसे उस समय अनुभूत करने की सामर्थ्य हिन्दी रंगमंच में नहीं थी। जो एकांकी खेले भी जा रहे थे, वे कॉलेजों या शौकिया मंच पर। सर्जनात्मक रंगमंच से भुवनेश्वर के नाटकों का कोई गहरा सम्बन्ध नहीं बना। जबकि 'ऊसर', 'स्ट्राइक', 'आज़ादी की नींद' उनके सशक्त एकांकी हैं। अगर अन्य लघु रचनाओं पर प्रयोग हो सकते हैं और हुए हैं, तो भुवनेश्वर के

एकांकियों को लेकर क्यों नहीं? फिर 'ताँबे के कीड़े' तो एक 'पूर्ण नाटक' जैसा ही गम्भीर और अर्थवान है, रंगमंच के लिए चुनौती है। यह नाटक अपनी रंगमंचीयता में विश्व रंगमंच के साथ हिन्दी रंगमंच को खड़ा करता है। अंग्रेज़ी में आस्वार्न ने अपने नाटक 'एंग्री यंगमैन' द्वारा अपनी असहमति अस्वीकार वाली मुद्रा को व्यक्त किया था, वैसी ही दृष्टि भुवनेश्वर की भी है, पर रंगमंच इस प्रकार के पैनेपन से जुड़ा नहीं। हम उस 'अर्थहीनता' और 'अद्वितीयता' की आदी नहीं थे। भुवनेश्वर के लिए रंगमंच के ख़तरों से खेलना होगा और उसके रास्ते खोजने होंगे। प्रश्न उठाते जाना भुवनेश्वर की शैली है। उनका हर एकांकी प्रश्नों से एक भ्रम, एक नाटकीयता पैदा करता रहता है।

प्रेमचन्द ने भुवनेश्वर की 'वाक्चातुरी' की प्रशंसा की है। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों और भुवनेश्वर में ही वाक्चातुरी का यह गुण मिलता है, जो संवादों में नयी चमक, ताज़गी लाता है और अभिनेता को उनकी अदायगी के कई-कई अवसर प्रदान करता है। जिस तरह की हाज़िरजवाबी और खनक, बोलने का अन्दाज़, उतार-चढ़ाव वे देते हैं, वह रंगमंच की भाषा से जुड़ता जाता है। इतना ही नहीं, भुवनेश्वर इस वाक्चातुरी और पात्र की क्रियाओं, गतियों को इस प्रकार संयुक्त करते हैं कि अर्थ-सम्भावना और अभिनयात्मकता को विस्तार मिलता है। अब यह निर्देशक और अभिनेता पर है कि वह कहाँ तक उनकी गहराई में पैठ जाता है। हर नाटक का आरम्भ और अन्त इन्हीं विशेषताओं के साथ होता है—सहसा कुछ होना, पर ऐसे कि वह वास्तविक लगे। उनकी आकस्मिक क्रियाएँ भी कृत्रिम नहीं लगतीं। उनके पात्र ऐसी चुनी हुई प्रकृति के होते हैं कि उन दो-चार पात्रों से ही नाटकीय यथार्थ बुनता जाता है। 'ऊसर' में एक 'इण्टलैक्चुअल एक्सपेरीमेण्ट' और खेल के ज़रिये बहुत व्यापक व्यंग्य किये गये हैं और नाटक की गतिशीलता भी बनी रहती है। सब कुछ विश्वसनीय भी लगता है। 'स्ट्राइक' का आरम्भिक दृश्य ही सुबह के ब्रेकफ़ास्ट का इतना गत्यात्मक, सहज, 'व्यस्त' दृश्य है कि रंगमंच की जीवन्तता उभरती है। प्रायः वह अन्त भी सहसा नौकर, चपरासी के अचानक आने और नाटक के प्रचलित कथानक को मोड़ दे देनेवाली पद्धति से करते हैं, पर इस तरह कि वह झटका भी न लगे और संयोग तत्त्व जैसा स्थूल भी न लगे।

भुवनेश्वर अगर यथार्थवादी रंगमंच की मौलिकता तलाशते हैं, तो 'सिकन्दर' में वह भारतीय रंगमंच, क्लासिक रंगमंच की लय और भाषा का पूर्ण आभास भी कराते हैं। नाटककार लक्ष्मीकान्त वर्मा भुवनेश्वर की रंग-दृष्टि के विषय में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं कि, "भुवनेश्वर दृश्य को केन्द्र में रखकर काल की तलाश नहीं करते थे, इसके विपरीत वह काल को केन्द्र में रखकर और तब दृश्य की सर्जना करते थे। काल को केन्द्र में रखकर एक ही क्षण बहुदृश्यीय हो जाता था और भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सड़क, मकान, घर, होटल सब कुछ एक-दूसरे में गड्डमड्ड होकर और एक-दूसरे से जुड़ा हुआ होकर प्रस्तुत होता है। यही कारण है कि उनके

नाटकों को मंच पर प्रस्तुत करने का साहस सामान्य रंगकर्मी नहीं करता, क्योंकि रूढ़िवादी रंगशिल्प की मान्यता देश, काल और कर्म की एकता पर बल देती है, जबकि भुवनेश्वर काल को केन्द्र में रखकर दृश्य और कर्म की अन्तःक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से नाटक बुनते हैं।"

(भुवनेश्वर : एक दृष्टि, *भुवनेश्वर : व्यक्तित्व और कृतित्व*, पृ. 23.)

यहाँ नाटक का बुना जाना महत्त्वपूर्ण है, तभी बाहरी साधनों का कहीं प्रयोग भुवनेश्वर नहीं करते—न कविता, न गीत-संगीत, न नृत्य आदि, पर उनकी संरचना में एक निर्देशक का सम्पूर्ण रचना-संसार निहित होता है। उनके प्रतीक, संकेत, शब्द सब अभिनय को अनेक रंग देते हैं, आयाम देते हैं। टोन, लय, बलाघात, व्यंग्य, लय आदि से अभिनय की भंगिमाएँ निकलती रहती हैं। कवि शमेशर बहादुर सिंह तथा उनके अन्य मित्र बताते हैं कि अक्सर भुवनेश्वर के दिमाग़ में कोई नाटक चलता रहता था, जो किसी-न-किसी रूप में दिखायी देता था अर्थात् हाथ में चाकू लिये, आँखें तरेर, दाँत पीसे, मारने के लिए खड़े, कथ्य, शिल्प और दृश्यों में पूर्णतः रमकर उन्होंने नाटक लिखे।

अतिनाटकीयता से उन्होंने नाटक को हमेशा बचाया फिर भी वह धज्जियाँ उड़ाते दीखते हैं—मूल्यों की, चौखटों की। वह हर प्रकार की अतिरंजना को उघाड़ देते हैं—इससे सहसा झटका लगता है, पर अस्वाभाविक नहीं लगता। जिस तरह वह दृश्य-संयोजन और प्रस्तुति करते हैं। बर्नार्ड शॉ और लारेन्स की शैली हमें उनमें आत्मसात् लगती है। उनके पात्र ही अक्सर दर्शकों पर चोट करते चलते हैं। ध्वनियाँ, अभिनय मुद्राएँ, भंगिमाएँ सब उभरती जाती हैं। भुवनेश्वर नाटक को दृश्यकाव्य ही मानते थे, रंगमंच अलग से आरोपित नहीं दीखता, बल्कि नाट्यभाषा, स्थितियों के गुम्फन, गत्यात्मक दृश्यों, कार्य-व्यापार और संघर्ष एवं व्यंग्य के संश्लिष्ट प्रयोग से, पात्रों की क्रियाओं से रंग-सृष्टि करते हैं—उसकी खोज और पकड़ एक सूक्ष्म और गम्भीर काम है। भुवनेश्वर के नाटकों को मंचित करने के लिए गहरी साहित्यिक समझ, रंगभाषा-संस्कार और अनुभवी दृष्टि चाहिए। बहुआयामी अभिनय और प्रस्तुतीकरण लेकर वे चलते हैं, जहाँ संप्रेषणीयता के लिए निर्देशक की प्रतिभा और कौशल अपेक्षित है। उनके किसी नाटक में रंगमंच के नाटकीय फ़ार्मूले नहीं हैं—पूरे नाटक में ही भीतरी तनाव है, अद्भुत कसावट है, स्तर-पर-स्तर हैं—अर्थ के, संकेतों के, अभिनय के। उनकी रचनात्मकता उसकी भाषा, और रंगमंचीय सम्भावनाओं में ही है।

कृष्णनारायण कक्कड़ के अनन्य प्रयास और निष्ठा से 28 अप्रैल 1996 को रवीन्द्रालय, लखनऊ में मेघदूत संस्था द्वारा भानु भारती के निर्देशन में 'ताँबे के कीड़े' का मंचन हुआ—यह पूरी स्थिति एक अनुभव की तरह थी। कृष्णनारायण कक्कड़ के अनुसार, "भानु भारती ने जब 'ताँबे के कीड़े' पर काम करना आरम्भ किया, तो उन्हें हर बार नाटक में एक नयी शक्ति, एक नया अर्थ दीखने लगा और उनका यह

अचरज और गहरा होता गया कि आख़िर 1946 में जब विश्व रंगमंच में आयनेस्को या बैकेट का आगमन नहीं हुआ था, भुवनेश्वर ने ऐसे नाटक की परिकल्पना कैसे की।" उस ज़माने मे, जबकि हिन्दी नाटक में रंग-संकेत भी पाठ्य ज़्यादा हुआ करते थे और थोड़ा-बहुत अश्क को छोड़कर रंगानुभूति, नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्ध को और नाटक को एक सशक्त जीवन्त कला के रूप में कोई भी अनुभव नहीं कर पाया था, भुवनेश्वर की मौलिकता और नाटकीय समझ विस्मित कर देती है। उन्होंने कई मानों में अपने युग की सीमाओं को तोड़ा। आज के नाटककार की तरह हिन्दी रंगमंच और हिन्दी नाटककार की दयनीय स्थिति से वह अवगत थे, स्वयं उसके भोक्ता थे। उन्होंने आज से वर्षों पहले ही यह समझ लिया था कि एक नाटक का लिखना जो स्टेज के लिए नहीं लिखा गया, किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं है। 'रंगमंच' उनके लिए जीवन में एक चुनौती था। 'ताँबे के कीड़े' निर्देशन और अभिनय की दृष्टि से बहुत-सी सम्भावनाएँ लिये हुए है। यह अपने आप में एक-पात्रीय नाटक भी हैं, लेकिन सभी पात्रों को रंगमंच पर प्रस्तुत करके भी नया प्रयोग किया जा सकता है और इसके अतिरिक्त केवल प्रतीकों के सहारे भी मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। इसलिए कहीं भी खेला जा सकता है, खुले मैदान में, बन्द हाल में, ड्राइंग रूम में या क्लास रूम में भी। बैकेट और जेने के नाटक अभिनेताओं की कल्पनाशीलता की छूट के लिए प्रसिद्ध है, आयनेस्को के पात्र एकदम कठपुतली की तरह लेखक के विचारों के ग़ुलाम लगते हैं। भुवनेश्वर ने कल्पना-शक्ति को उकसाने के बहुत अवसर दिये हैं। कहने का मतलब यह क प्रयोगशील रंगमंच की स्थापना का प्रयत्न भुवनेश्वर ने किया था, निर्देशक और अभिनेताओं की कल्पनाशीलता, विचारशक्ति और प्रयोगात्मकता की सम्भावनाएँ उसने सामने स्पष्ट थीं, उनकी अनाउंसर सूत्रधार का ही एक नया रूप है, जो आद्यन्त बड़ी सक्रिय और जीवन्त है। वह दर्शकों से सीधे बातचीत करती है। उसकी बातों में दर्शक की प्रतिक्रिया भी सुनायी देती है। नाटक का अन्त होने पर वह इठलाती हुई हँस रही है और झुनझुना कमरबन्द में अटका लेती है। वह आदमी की नियति को भी समझ रही है और दर्शकों के विरोध और प्रतिक्रिया को भी, क्योंकि नाटक का अन्त किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर या किसी प्रश्न का उत्तर देकर नहीं हुआ। इसीलिए वह कहती है, "नहीं, अभी ख़त्म कहाँ हुआ। अभी तो दो मिनट का एक नाचा-गाना और है।...और न जाने इस गाने से अन्त करने में नाटक लिखनेवाले का क्या मतलब है। मेरी समझ में तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखनेवाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि "ज़िन्दगी और नाटक का प्राब्लम—एक ही है, यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एकस्वर करना और उसमें एक केन्द्रीय महत्त्व यानी सेन्ट्रल सिग्नीफ़िकेन्स करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाएँ।"

---

# 10

# भाषा और शिल्प के सर्जक

भुवनेश्वर ने हिन्दी नाटक को एक नयी, सार्थक, तराशी हुई, अकृत्रिम भाषा दी। उनके नाटकों की ही नहीं, कहानियों की भाषा में भी एक प्रकार का चमत्कार है, पर अस्वाभाविकता नहीं। न उनके शब्द बातूनी हैं, न वर्णन और वर्णनों या कथोपकथनों की भाषा रोमानी या भावुक और बनावटी है। शब्दों की मितव्ययिता और पारदर्शिता, लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता उनकी मौलिकता है। बेहद कम शब्दों में गहरी यन्त्रणा, संघर्ष और मानवीय पीड़ा को वे साकार कर देते हैं और इतने बेबाक और बेलौस ढंग से कि पाठक/दर्शक सहसा चकित रह जाता है। इस भाषा में लेखकीय तटस्थता भी है और कटु सामाजिक चेतना से जन्मी जीवन्तता भी। गद्य भाषा में तटस्थता और जीवन्तता जैसे विरोधाभासी गुणों का इस प्रकार समावेश नया है और भाषा की शक्ति है। किसी प्रकार का छद्म उनकी भाषा में नहीं है। न दर्शन कहते समय, न मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों से उलझते समय और न समाज के, जीवन के, मनुष्य के आन्तरिक-बाह्य यथार्थ से जूझते हुए। भाषा से निकला हुआ व्यंग्य और चुभता हुआ व्यंग्य उनका मुख्य आधार था। भुवनेश्वर की भाषा रोमानियत और प्रचारवादी ढंग दोनों से अलग है, जो अपनी ही शक्ति और रचना में विश्वास रखती है। उनकी गद्य-भाषा एक चुटकी लेती हुई भाषा, चीरती हुई भाषा, व्यंग्य-विनोद करती, कभी-कभी निर्भीक भाषा भी लगती है—ख़ासकर एकांकियों में। मुख्यतः कविता, व्यंग्य, कहानी, नाटक सबसे सँवरी हुई है। अपनी भाषा के कारण भी आज उनकी रचनाएँ ताज़गी से भरी लगती हैं। वे सार्थक, प्रासंगिक और साफ़ लगती हैं।

भुवनेश्वर की भाषा में उनके व्यक्तित्व का प्रभाव दिखायी देता है, जो सामान्यतः किसी भी रचनाकार के साथ होता है। वह अपने आभिजात्य, बौद्धिक व्यक्तित्व के लिए जाने जाते थे। उनके उस व्यक्तित्व की झलक, उस व्यक्तित्व का कठोर और मार्मिक रूप हमें उनकी भाषा में मिलता है—एक प्रकार का डिक्टेटरशिप का ताना-बाना बुना हुआ मिलता है। बराबर एक भिन्न टोन हमें उनके एकांकियों में मिलती है। एक नाराज़गी भी और दुनिया की समझदारी भी। इसीलिए वह

डिक्टेटर की भाषा भी नहीं लगती। कथ्य और भाषा, कथ्य और शिल्प की कोई मजबूरी उनमें नहीं है। कोई परिभाषित रूप भी नहीं है, पर उनकी भाषा सबसे अलग पहचान में आती है।

असंगत नाटक के रचनाकार विपिन कुमार अग्रवाल ने भुवनेश्वर की भाषा पर बिलकुल अलग हटकर देखा और उसकी शक्ति को पहचाना भी। अगर नाटक कथाविहीन, ऊलजलूल, बेतुकी स्थितियों का नाटक है, तो वहाँ बनी-बनायी भाषा का रूपान्तरण होता है। वहाँ अनावश्यक शब्द हट जाते हैं, दब जाते हैं और बहुत ही चुने हुए प्रभाव पैदा करनेवाली स्थिति बनती है कि शब्दों के तालमेल, उसके भीतर से निकलनेवाली गूँज से भाषा बनती है। भुवनेश्वर ने सही मानों में नाटक को बोलचाल की भाषा दी, पर उसे भी एक सहज, उच्चरित रूप देकर अबूझ लोच, संकेत और संश्लिष्टता दी। बोलचाल की भाषा सीधी, सरल, सपाट लगती है, पर भुवनेश्वर उसे अनोखी भंगिमाएँ और बातचीत का अन्दाज़ देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनके एकांकियों में सूक्त वाक्य भी हैं और उनकी भाषा, व्यंजना और बुनावट संस्कृत श्लोकों जैसी है—घनीभूत अर्थ देती हुई और व्यापक मानव-सत्य, सार्वभौमिक विचार को कहती हुई। 'मातृत्व एक स्त्री का सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट रूप है।' (प्रतिभा का विवाह), 'न्याय तीव्र प्रतिहिंसा का नाम है।' (लाटरी), "आज़ादी सिर्फ़ एक ख़बर है। सड़कों की भीड़ में घिसटती हुई एक ख़बर, इससे ज़्यादा कुछ नहीं।" (आज़ादी की नींद) एकांकी, नाटक जैसी सूक्ष्म दृश्य विधा में सूक्ति वाक्य बाधा नहीं पहुँचाते—यह लेखक की कला है।

भुवनेश्वर की नाट्य-दृष्टि और संवेदना इतनी प्रखर है कि वह भाषा का भी बहुत सर्जनात्मक, नाटकीय प्रयोग करते हैं। जितनी गहराई से उन्होंने जीवन को समझा, उतनी ही गहराई से उसे अभिव्यक्त भी किया, फिर भी वह न भारी, बोझिल, उलझाव भरी है, न कथन-शैली की स्थूलता से युक्त। उन्होंने नाटक की भाषा का सबसे सटीक, सार्थक, रंगमंचीय मुहावरा चुना, जो आज भी नाटक की भाषा का हिन्दी में सशक्त उदाहरण है। 'ताँबे के कीड़े' की भाषा एक उदाहरण है। यही नहीं कि भाषा बोलचाल की है, बल्कि बड़े गहरे अनुभव और व्यापक नाट्यानुभूति से जन्मी हुई है—बहुत ही सांकेतिक। शब्द जैसे कई ध्वनियाँ देनेवाले हैं। भुवनेश्वर ने शब्द की आत्मा में प्रवेश किया है। परम्परागत प्रस्तुतीकरण से, प्रचलित मृत भाषा से स्वतन्त्र होकर ध्वनियों से, प्रतीकों से, संकेतों से काम लिया गया है। 'ताँबे के कीड़े' की भाषा इस सत्य का सशक्त उदाहरण है कि नाटक भाषा से बनता भी है और भाषा को बनाता भी है कि नाटक की भाषा पूरे साहित्य की भाषा को बदल सकती है, नया रूप दे सकती है।

जिस तरह भुवनेश्वर को उनके कृतित्व द्वारा जानने-समझने की आवश्यकता है, उसी तरह उनकी सशक्त भाषा और भाषा की बुनावट में, उसके व्यंग्य और सांकेतिकता, ध्वनि और लयात्मकता में उनकी विलक्षण प्रतिभा, प्रयोगशीलता और

सृजनशीलता को पहचानने की ज़रूरत है। इसे नाटक की सर्वेश्वर दयाल सक्सेना या चेख़व की भाषा नहीं कह सकते, वह कभी भाषा में बेहद आक्रामक दीखते हैं, कभी एकदम यायावर, 'अघोरी साधक'-से, कभी निहायत घरेलू, आत्मीय और कभी दो टूक।

भुवनेश्वर की भाषा बहुआयामी है। उन्होंने शब्द को निश्चित अर्थ से, एक-आयाम के बन्धन, जकड़न से मुक्त किया। भाषा की दबी हुई शक्ति को ध्वनित किया। अचानक चौंकाकर उनके शब्द नया सन्दर्भ खड़ा करते हैं। कभी भी पाठक या दर्शक को वह एक मनःस्थिति में नहीं रहने देते। शब्द को उसकी नयी अर्थशक्ति और जीवन्त संकेत के लिए, टोन के लिए तैयार रखना—चाहे कहानी हो या नाटक—उनकी विशिष्टता है। उनके शब्दों की अनुगूँज दूर-दूर तक सुनायी देती है। भाषा का यह बहुआयामी रूप मन-मस्तिष्क सबको मथ डालता है। यह रंगीन नहीं लगता, लेकिन छन-छनकर सम्प्रेषित होता है, रंगमंच को, अभिनय को सक्रिय करता है, बल्कि चेतावनी देता है और इस चेतावनी में दर्शक की भी भागीदारी होती है। भाषा और कार्य, भाषा और दर्शक का, भाषा और अलग-अलग चरित्रों का, भाषा और कथ्य का एक अबूझ रिश्ता भुवनेश्वर की रचनाओं में बनता है। उनके 'आदमख़ोर' और 'जेरूसलम को' नाटक पहले अप्राप्त थे, पर बाद में कृष्णनारायण कक्कड़ के सौजन्य से प्राप्त ये रचनाएँ भाषा और रंगशिल्प का महत्त्वपूर्ण रूप हैं।

'आदमख़ोर' में आम आदमी की नियति का चित्रण करते हुए भुवनेश्वर की नाट्यभाषा में शब्द, पात्रों की क्रियाएँ, शब्दों, शब्द-संक्षेप की हरकत, टोन, लय और ध्वनि जिस तरह संघर्ष और करुणा के मार्मिक चित्र खींच देते हैं—'वाचिक अभिनय', रंगमंच की भाषा का इससे अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता। उसकी भाषा स्वतः तैराती हुई ले जाती है। यह दृश्य-श्रव्य भाषा है। नट और प्रेक्षक के अन्तराल को वह बहुत कम भी करते जाते हैं और कभी दूरी बना भी देते हैं। कुछ भी निश्चित नहीं होता। भाषा कहकर भी अलग से देखना उपयुक्त नहीं है। यह भाषा साहित्य की भाषा का वह भी उस समय—एक प्रतिमान है। यह भाषा हमीं से बात करती है, झकझोरती है, कचोटती है, हिलाती और गुदगुदाती है। वह शब्दों से खेलते नहीं, न उनको सजाते-सँवारते हैं। शब्दों को नयी चेतना देते हैं—बेज़ार, झूठे पड़े, घिसे, रूढ़ शब्दों को नयी प्राण-शक्ति देते हैं, प्रयोग से ताज़गी देते हैं। विपिन कुमार अग्रवाल ने उनकी भाषा के सन्दर्भ में 'हरकत की भाषा' का सन्दर्भ उठाया था। उनके पात्र जितना बोलते हैं, उतना ही साथ-साथ हरकत भी करते हैं और शब्दों, वाक्यों को भी अर्थ-सौन्दर्य, गति देते हैं, जीवन की धड़कन देते हैं। 'भेड़िये' और 'मौसी' शीर्षक कहानियाँ तथा 'ताँबे के कीड़े', 'आज़ादी की नींद' और 'ख़ामोशी' शीर्षक एकांकियों को साथ-साथ देखने पर उनकी भाषा का तीखा व्यंजक तेवर, सशक्त रूप में अनुभूत होता है। वह तीखा भी लगता है, मार्मिक भी और दूरगामी

दृष्टि और एक्शन से संयुक्त भी। भुवनेश्वर में शॉ और और आस्कर वाइल्ड का समन्वय है, पर उनकी भाषा बताती है कि वे स्वयं वहाँ वर्तमान हैं। आज बार-बार यह कहना बेमानी है कि उन पर पाश्चात्य प्रभाव हैं। इतनी जानदार भाषा प्रभावों से नहीं बन सकती थी—वह स्वतःस्फूर्त है और उसमें भुवनेश्वर की आधुनिकता, उनका बुद्धिवाद, जीवन के प्रति उनकी संवेदनशील दृष्टि और नाटक की दृश्यात्मकता की गहरी समझ कार्य कर रही है। प्रेमचन्द भी उनके सम्भाषणों और उनमें भावों के मार्मिक अंकन, तीव्र बुद्धि और सूझ-बूझ की प्रशंसा करते हैं। (प्रेमचन्द-*विविध प्रसंग*, पृ. 374)

अनुभवों का दृश्यांकन भुवनेश्वर इतनी पैनी भाषा में करते हैं कि बँधा-बँधाया स्थिर समाज हिल उठता है। समाज में जिन बातों को, अनुभवों को हम अनदेखा करते रहते हैं, उन्हें वे तेज़ और व्यंजक भाषा से उघाड़ डालते हैं। उनकी भाषा यथार्थ की चोट सहने के लिए हमें तैयार करती है। उनके ही शब्दों में,"प्रायः समस्त नाटककार पेटीकोट की शरण लेते हैं। दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है, केवल बुलडॉग के मुख से हड्डी निकालकर अलग फेंक दी है।"

भुवनेश्वर की भाषा न भद्र लोक की अभिजात्य गौरवसम्पन्न भाषा है, न यथार्थपरक बोलचाल की भाषा, न हास्य-व्यंग्य की चुभती हुई सरस, इकहरी भाषा। इसलिए उसे हम काव्य भाषा *आधे-अधूरे* की भाषा नहीं कह सकते।

ऐतिहासिक नाटकों के लिए भी भुवनेश्वर ने नयी भाषा की तलाश की। वे इतिहासकाल के कूट शब्दों, प्रयोगों, सम्बोधनों, प्रतीकों को लेते नहीं हैं, जैसी कि जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि के ऐतिहासिक नाटकों में अतीत की एक शब्दावली बन चुकी थी। भुवनेश्वर भाषा को हमेशा समकालीन मानकर चलते हैं, इसलिए वे समकालीन भाषा को उस काल और काल के ऐतिहासिक सन्दर्भों से जोड़ते हैं। 'सिकन्दर' की भाषा ऐतिहासिक नहीं हैं, लेकिन वह लय, वह संस्कृति, वह भारतीयता, वह राष्ट्रीय चरित्र उसमें प्रत्यक्ष अनुभूत होता है, क्योंकि उन्होंने उस इतिहास की अतीत संवेदना को समकालीन भाषा से उतारा है और सम्पूर्ण नाटकीय अभिव्यंजना के साथ। अभी तक हम प्रसाद की भाषा को ऐतिहासिक नाटकों की भाषा का मानक मानते थे, पर भुवनेश्वर ने अपनी समकालीन भाषा को ऐतिहासिक नाटक के लिए मौलिकता और प्रतिमान का रूप दिया। इस अर्थ में भुवनेश्वर की भाषा पर गम्भीर कार्य अपेक्षित हैं। भुवनेश्वर की भाषा पर कृष्णनारायण कक्कड़ की ये पंक्तियाँ न केवल उनके साहित्य और भाषा का आकलन करती हैं, वरन् पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ में उनकी विशेषता को भी रेखांकित करती हैं, 'भुवनेश्वर की भाषा में एक विशेष चामत्कारिकता थी और कभी-कभी वह अत्यन्त यर्थाथवादी और ठोस मालूम पड़ती थी, लेकिन काव्यात्मकता

और अर्थविस्तार उसकी विशेषता थी और ऊब, उलझन, जुगुप्सा और साथ-साथ खुलापन—जैसे कुछ ऐसे मूड हैं, जो उसकी भाषा के दायरे में आसानी से आते थे। साथ ही हल्की-सी चौंका देनेवाली प्रवृत्ति थी, जो सम्भवतः शॉ, इब्सन या डी.एच. लारेन्स के निकट आती है, लेकिन कहीं-न-कहीं पारलौकिकता या रोमांस उस भाषा को एक विशेषता प्रदान करती थी और उसमें एक बालसुलभ शैतानी भी थी। भाषा ठोस भी हो सकती है, चालाक हो सकती है, कटु और कठोर हो सकती है, कल्पनाशील हो सकती है, दुखी हो सकती है, बहक सकती है, सम्भवतः भुवनेश्वर के अन्तिम नाटकों में से 'आज़ादी की नींद' में ये सभी गुण हैं और कहीं-न-कहीं उसे बोली जानेवाली बनाने की प्रक्रिया एक विशेष प्रकार की नाटकीयता उत्पन्न करती है।" (भुवनेश्वर स्मृति, *भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व*, पृ. 172) ये उनकी भाषा की बहुविध स्तरीयता है। भुवनेश्वर की भाषा हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में सजीव और रंगमंच की दृश्य भाषा है। भाषा-दृष्टि से उनकी विशिष्टता हिन्दी में एक 'नाटककार' के दायित्व का उल्लेखनीय पक्ष है। विपिन कुमार अग्रवाल ने कहा था कि भुवनेश्वर नये नाटक के जन्मदाता हैं। नया नाटक भाषा को बदल डालता है, बल्कि पूरे साहित्य को एक नयी भाषा देता है। भुवनेश्वर की भाषा की इस चमक को अनुभूत करने-कराने के लिए अपेक्षित स्थितियाँ नहीं बन पायीं।

भुवनेश्वर किसी भी प्रकार के फ़ार्म को, फ़ार्म के बन्धन को स्वीकार नहीं करते। वे जितनी तेज़ी से रूढ़िवादी फ़ार्म को तोड़ते हैं, उतने ही झटके से आधुनिक शिल्प को भी। मुक्ति, क्रिया-प्रतिक्रिया, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषा की ताज़गी उनके शिल्प का आधार है। वह परिभाषित होने के लिए नहीं है। उनका व्यक्तित्व बहुत सजग, सार्थक गद्यशिल्पी का है। वे अपने गद्य की शक्ति से, शिल्प से पाठक/दर्शक की संवेदना को कुरेदते हैं और स्वयं पाठक/दर्शक की अभिव्यक्ति को खोलते हैं। विशेषता यह कि वे बहुत-से रचनाकारों की तरह स्वयं बिलकुल अनुपस्थित रहते हैं। इसीलिए उनके शिल्प का कोई ढाँचा पकड़ना आसान नहीं है। एक तरफ़ 'मौसी' कहानी है, दूसरी तरफ़ 'भेड़िये'। अपनी प्रतीकात्मकता, गत्यामकता, आकस्मिक झटकों, मानसिक-शारीरिक शॉक, लोककथा के उपभोग, अपने वस्तुचयन और उसकी अभिव्यक्ति, उसकी भाषा के कौशल और सबकी संश्लिष्टता समग्रता और कार्य की दृष्टि से यह कहानी भुवनेश्वर के गद्य-शिल्प का, उनकी भाषा-शक्ति का अद्भुत नमूना है। सब कुछ आँखों के सामने होता हुआ और ओझल होता हुआ, अमानवीयता की चरम सीमा को व्यक्त करता हुआ गद्य। न भावुकता है, न अलंकरण न कोई बनावट। 'सूर्यपूजा' कहानी में दो पात्रों के संवादों और फ़ैंटेसी से रची गम्भीर कथा है—यह कथाशिल्प भिन्न है। उनकी सभी कहानियों का शिल्प इसलिए नया और सजग लगता है, क्योंकि उन्होंने गद्य-संरचना को बड़ी गहरी अन्तर्दृष्टि दी, भीतरी संवेदना दी। उनका कोई वर्णन व्यर्थ नहीं जाता, न वे सूचनाएँ देते हैं, अगर देनी भी

पड़ती है, तो इस तरह कि उससे कहानी में अचानक एक गम्भीर मोड़ आता है। 'माँ-बेटे' कहानी का अन्त इस अर्थ में बहुत रचनात्मक है।

भुवनेश्वर मुख्यतः नाट्यशिल्पी हैं। 'ऊसर' का आरम्भ ही उस बिखराव, अजनबीपन, खोखलेपन, सम्बन्धहीनता को दिखाता है—हरकतों से, भीतरी ग्रन्थियों से, माहौल से, प्रतिक्रियाओं से। उनके किसी भी नाटक में कथानक, घटनाएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—कथाविहीन नाटक में स्थितियों और चरित्रों पर, उनके संयोजन पर उनकी पकड़ बहुत गहरी होती है। अपने हर एकांकी में भुवनेश्वर बहुत सघन-संश्लिष्ट ताना-बाना बुनते हैं और चरित्रों के कार्यों, स्थितियों, संकेतों से यथार्थ व्यंजित करते हैं। कम पात्र, पर बहुत सोच-समझकर रखे और रचे गये, जिससे कथानक और उसके बीच चरित्रों की महत्ता, उनका सुनिश्चित स्वरूप पूर्णतः भंग हो गया है। एकांकी चाहे 'पतित' हो, चाहे 'स्ट्राइक', 'ऊसर', 'ख़ामोशी'—सब अपने शीर्षकों की सांकेतिकता, अर्थवत्ता को बिलकुल नये अर्थों में तोड़ते-गढ़ते हैं। प्रहसन की पुरानी परम्परा संस्कृत में, लोक में, हिन्दी नाटक में रही है या अंग्रेज़ी में, पर भुवनेश्वर प्रहसन के परम्परागत ढाँचे को तोड़कर उसे नया शिल्प देते हैं—कथा नहीं, पात्रों के नाम नहीं, ऊलजलूल स्थितियाँ और बेतुकी बातें हैं, पर आज़ादी के मोहभंग की बड़ी तीव्र अनुभूति वे कराते हैं। आज़ादी को भुवनेश्वर इतने तरह-तरह के अनर्थों, प्रलापों में फैलाते जाते हैं कि उस हास्यक्रिया में सचमुच आज़ादी एक मख़ौल हो जाती है। नाटक को विभिन्न आयामों में प्रक्षेपित करना, एक स्थिति को व्यापक अर्थों में ले जाना भुवनेश्वर की दूरदर्शिता है। 'ख़ामोशी' में वे शोषण की अर्थनीति पर व्यंग्य करने के लिए फ़ैंटेसी का आधार लेते हैं। दो कण्ट्रास्ट चित्र लगते हैं—चित्रों के भीतर से ही सम्वाद और अभिनय शुरू हो जाता है, जिससे दो सिस्टम के विरोधाभास, टकराहट सामने आती है। अपने किसी एकांकी में भुवनेश्वर ने अपने नाट्यशिल्प को दोहराया नहीं। उनकी कल्पनाशीलता और मेधावी प्रतिभा ने जीवन के यथार्थ और विसंगतियों को हमेशा धारदार गद्यशिल्प में अभिव्यक्त किया। वे भाषा और शिल्प के सन्दर्भ में नये प्रतिमान स्थापित करनेवाले रचनाकार हैं। प्रयोग करते रहना लेखन के विस्तार के लिए, ताज़गी के लिए वे आवश्यक मानते थे। अमृतराय हों या शमशेर बहादुर सिंह—भुवनेश्वर को वे परम्पराओं को तोड़नेवाला 'पायोनियर' लेखक मानते हैं। *कारवाँ* के आरम्भिक एकांकियों में वह संयम नहीं है, जो परवर्ती एकांकियों में है। कलात्मक संयम की दृष्टि से कहानी 'भेड़िये' और एकांकी 'ऊसर', 'ताँबे के कीड़े', 'आदमख़ोर' भाषागत और शिल्पगत वैशिष्ट्य का उदाहरण हैं। 'जेरूसलम को' अगर 'अति ऐतिहासिक नाटक' है, तो अपनी बनावट में वह एक पूर्ण नाटक जैसा है। इसका आधार ईसामसीह का चरित्र है। इसके द्वारा भुवनेश्वर रंगभेद, नस्लभेद का विरोध करते हैं। यह विरोध उस नृशंस प्रवृत्ति के लिए है, जो मनुष्य की अस्मिता और मानवीयता को नष्ट कर देती है। यहूदी और रोमन

पात्रों को लेकर भाषा और रंगशिल्प का जो ओज, कार्य-व्यापार और दृश्य-परिवर्तन हैं, वे लेखक की आधुनिकता और नाट्य-परिकल्पना के उदाहरण हैं।

संघर्ष और तनाव भुवनेश्वर के नाट्यशिल्प का आधार हैं। जिस प्रकार की जटिल स्थितियों का द्वन्द्व और उससे उत्पन्न तनाव फ्रेंच या योरोपीय भाषा के लेखकों में मिलते हैं—वह उनके नाट्य-शिल्प में हैं। विकृत यथार्थ और विद्रूप स्थितियों को इस तरह व्यक्त करना कि वह विश्व का अनुभव हो जाए, यह भुवनेश्वर की प्रतिभा है, नाट्य-धर्म के प्रति वह इतने सजग थे कि उनकी रचनाएँ कहीं भी कृत्रिम, प्रयोगात्मक नहीं लगतीं। वैसे भी उनके साहित्यकार मित्रों का कहना है कि 'उनके दिमाग़ में हर वक़्त प्लाट और सीन्स घूमते रहते थे'—उनके नाटक पढ़ने पर भी आभास होता है कि किसी ड्रैमेटिक सिचुएशन से वे तब तक जूझते रहते थे, जब तक वह रचना में व्यक्त न हो जाए। त्रिलोचन शास्त्री इसीलिए उन्हें सच्चा कलाकार मानते हैं।

हमेशा भुवनेश्वर का प्रतीक से, संकेत से शुरू से सम्बन्ध रहा। विचार और बहस एक तरफ़। भुवनेश्वर के पात्र इस तरह गढ़े हुए नहीं होते कि उनके द्वारा कोई सत्य उद्‌घाटित हो या स्थापित हो, पर वे अपने पात्रों और घटनाओं, सन्दर्भों से जोड़ते चलते हैं और उनसे नाटककार की कलात्मक पकड़ का पता चलता है। जीवन की असलियत की अनुभूति कराने के लिए वह आकस्मिक शॉक देते हैं। आइरनी उनके शिला का बेहद अनिवार्य अंग है। चूँकि वह कथा नहीं लेकर चलते, कथा का एक प्रसंग लेते हैं—वहाँ मुख्य है विडम्बना। वही नाटकत्व की सृष्टि करती है, उनके 'स्ट्राइक' में तीनों पात्रों की विडम्बनाएँ हमारे सामने घटित होती हैं। 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विडम्बना, सामाजिक मूल्यों की पाखों की विसंगतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। तीनों पात्रों की त्रिकोणात्मक अनुभूति से विडम्बनाओं की सृष्टि ही नहीं होती, उसका चरम विकास भी होता है। भुवनेश्वर उस चरम बिन्दु को कभी अतिनाटकीयता से नहीं लाते, विस्फोट पैदा करते हैं। यह विस्फोट ही उस विडम्बना का एहसास कराता है, जिसके बीच हम रह रहे हैं। यह विडम्बना 'माँ-बेटे', 'भेड़िये', कहानी, 'ऊसर', 'आदमख़ोर', 'ताँबे के कीड़े' आदि एकांकी में देखी जा सकती है। विडम्बना का प्रस्फुटन और उसका निरन्तर एहसास भुवनेश्वर की विशेषता हे। भुवनेश्वर प्रायः अतीत, वर्तमान, भविष्य को एक साथ लाकर पात्रों को ही नहीं, दर्शकों को भी झकझोर डालते हैं। तीनों एक साथ होने से नाटकीय विडम्बना पैदा होती है, स्वयं भुवनेश्वर ने इस विडम्वना को सहन किया इसी के बीच रहते-रहते उनका हर रचना में वर्तमान का यथार्थ, 'इतिहास बन गया' अतीत का वह राग, जो चुक चुका है और भविष्य की वे बहुत सारी सम्भावनाएँ जो अदृश्य हैं—ये सब मिलकर पूरे नाटक की विडम्बना का एहसास कराते हैं। भुवनेश्वर ने स्वयं अपने जीवन में इस विडम्बना को महत्त्वपूर्ण बनाया। स्वयं

भुवनेश्वर ने अपने जीवन-काल में विडम्बना का एहसास करा दिया।

सही मानों में भुवनेश्वर की नाट्यकला अद्भुत है। वे सजग और कुशल शिल्पकार हैं। हर नाटक का आरम्भ करने की उनकी विशेष कला है, अर्थात् ऐसे कि लगे कुछ नहीं हो रहा है। यह कोशिश हिन्दी में प्रचलित नाटकों के आरम्भ करने की पूर्वनिर्धारित, सोची हुई, सधी हुई परम्परा के विरुद्ध है—नितान्त सहज, सक्रिय। चाहे 'स्ट्राइक' हो, चाहे 'ऊसर', 'ताँबे के कीड़े', 'आदमख़ोर' या कोई भी हो। हमें परिभाषित रूप में पता नहीं रहता कि लेखक किसे कैसे शुरू करेगा—जैसे कि प्रसाद के नाटकों में। हम उनकी विशेष शैली को, संघर्ष को, स्वगत-विधान को पकड़ लेते हैं।

भुवनेश्वर की रचनाएँ पढ़ते समय कुछ भी सैद्धान्तिक नहीं लगता, सारे अर्थ हमारे व्यवहार से निकलते हैं, फिर भी उनकी हर रचना गहरी त्रासदी से किसी-न-किसी सघन बिन्दु से आरम्भ होती है। हिन्दी के अन्य नाटककारों की तरह वे घटनाएँ नहीं लेते, न उसके घटाटोप और उनके नाटकीय विवरण, विकास और फिर उनके समायोजन में फँसते हैं। बहुत बड़ी, व्यापक मानवीय घटनाओं के घटित हो जाने के बाद की सारी स्थितियाँ उनका विषय हैं और उसमें भी मानवीय संवेदनाओं पर, उनकी जटिल उलझनों पर उनका ध्यान केन्द्रित होता है, जो उतनी सरल नहीं है, जितनी प्रसाद या मोहन राकेश में मिलती हैं। इस दृष्टि से कहानियों में उनके वर्णन और नाटकों में उनके संवाद बहुत संक्षिप्त, अनुशासित होते हैं। कहीं कोई अतिरिक्त प्रयास या दबाव दीखता ही नहीं। उनकी कला 'गागर में सागर' जैसी है और गम्भीर घाव करनेवाली। मानव-मन के सत्य को परत-दर-परत वह अभिव्यक्त करने की कला जानते हैं। उनके पात्र जब बात करते हैं, तो वे अपने कथोपकथनों में बहुत लिप्त, उत्सुक और बेचैन नहीं दीखते। वे प्रवाहशील ढंग से बोलते हैं, व्यवहार और क्रियाएँ करते हैं, भले ही उसी में भारी-भरकम विचार, बहस आ जाए और सूक्ति वाक्य भी। 'आज़ादी की नींद' प्रहसन है, लेकिन उसके प्रहसन तत्त्व को खोलने और सम्प्रेषित करने के लिए निर्देशक, कलाकार और आलोचक को उसको व्यापक और जटिल संवेदना, उसके पीछे के सारे सन्दर्भों, इतिहास, बुद्धिवाद, विचारधाराओं और साहित्य को समझना होगा, वरना वह प्रहसन है नहीं और लोग उनके पेशेवर नेता, कवि, नौकर, दाई जैसे पात्रों में ही उलझकर रह जाएँगे। भुवनेश्वर ने इतनी बातें इस प्रहसन में लाई हैं कि उन अनुभूतियों और विचारों तक स्वयं पहुँचना और फिर उन्हें पाठक या दर्शक तक पहुँचाने का बहुत संयमित, बारीक रास्ता निकालना बहुत दक्षता की अपेक्षा करता है। 'अँधेर नगरी' में भारतेन्दु लोक के धरातल पर प्रहसन लिखते हैं, कहाँ जन-संवेदना, सरल, सहज, उन्मुक्त उच्छ्वास और गीत, संगीत, लय, व्यंजनाएँ हैं, पर 'आज़ादी की नींद' में स्वयं भुवनेश्वर भविष्यवक्ता, सृष्टा सब हैं। वे ही इस 'आनेवाली आज़ादी की नींद' के पूर्ण द्रष्टा हैं और उस पर प्रहसन लिख रहे हैं। उन्हें मालूम है कि इस पर 'प्रहसन' ही लिखा जा सकता है।

शैली या शिल्प के आरोपण के बिना भुवनेश्वर अर्थों को खोलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अन्तःचेतना तक पहुँचते हैं। उनके शब्द और वाक्य लगातार उसे सूक्ष्म ढंग से विश्लेषित करते रहते हैं, उससे छेड़-छाड़ करते रहते हैं। इसलिए भाषा यहाँ शिल्प का अनिवार्य हिस्सा हो जाती है। वे बराबर पात्रों की बातचीत, उनके कार्यों से, प्रतिक्रियाओं से बहुत सारे संकेत और सम्भावनाओं को, भविष्य की बातों को आलोकित करते रहते हैं—बताते नहीं। यह 'आलोक' ही बराबर हमें सजग रखता है—ब्रेख़्त के नाटकों की तरह। उनके नाटक का अन्त भी निश्चित धारणा से नहीं होता, न किसी प्रकार के समाधान से। भविष्य की सम्भावित घटना को संकेतित करके, किसी दुर्घटना की ओर संकेत करके वे रचना का अन्त कर देते हैं, जो कि आप सोच भी नहीं रहे हैं और अधिकतर यह सहसा होता है। भुवनेश्वर सचमुच नाट्य-स्थितियों के व्यंजनाकार हैं। उस युग में व्यंजनाएँ समय से बहुत पहले की थीं और रंगमंच उनके लिए किसी भी प्रकार था ही नहीं। आश्चर्य की बात यह है कि बिना 'रंगमंच की सत्ता' के भुवनेश्वर ने हिन्दी को इतने सक्षम, सार्थक रंगशिल्प से पूर्ण एकांकी दिये। भुवनेश्वर की नाट्य-कला पर नाटककार लक्ष्मीकान्त वर्मा ने बड़ी गहराई से लिखा है। उनका कहना है कि "उनके नाटकों में घटना नहीं घटित होती। एक हो चुकी घटना का अर्द्धविराम ही उनके नाट्य दृश्य का प्रारम्भ होता है। जिस अर्द्ध-विराम से वह नाटक का प्रारम्भ करते हैं, वह हो चुकी घटना को भी प्रकाशित करता है और उसके सम्भावित नतीजों की ओर भी संकेत करता है। वस्तुतः इस अर्द्धविराम से कभी-कभी वह आगे बढ़ते हुए अतीत को आलोकित करते हैं।...वह वर्तमान के प्रवाह को अतीत वर्णन के लिए रोकते नहीं, वरन् 'वर्तमान का प्रवाह कहाँ, किस कोने पर क्या है' इसको छूता चलता है।" (भुवनेश्वर साहित्य की भूमिका—*भुवनेश्वर : वह और उनका साहित्य*, पृ. 31)

भुवनेश्वर आकस्मिकता का बहुत सुलझा हुआ प्रयोग करते हैं। कहानी और नाटक दोनों में वे उसका बहुत सार्थक प्रयोग करते हैं। अक्सर अन्त में अचानक एक अनुपस्थित पात्र का सहसा प्रवेश और उसके द्वारा दी गयी सूचना केवल झटका नहीं देती, रचना को नया मोड़ दे देती है—ज़्यादातर गहरी पीड़ा, यातना से भर देती है। 'स्ट्राइक', 'आदमख़ोर', 'रोशनी और आग', 'ख़ामोशी', 'ऊसर', 'एक साम्यहीन साम्यवादी' सबका अन्त ऐसा ही है। 'हाय रे मानव हृदय' कहानी एक ओर ईंट की मेम के प्रतीकार्थ को दूर तक ले जाती है, दूसरी ओर अचानक वहाँ पाठक की एकाग्रता झटके से टूटती भी है, जहाँ शव है और उसके सिरहाने पर एक चित्र की ओर लेखक ध्यान ले जाता है। उसी चित्र को देखकर नायक चिल्ला उठता है कि 'यही है वह स्त्री, जो मुझे यहाँ तक लायी।' सारा वातावरण बदल जाता है और नाटकीयता आ जाती है। पाठक भी एक अन्वेषण में, एक यात्रा में लग जाता है। फ़ार्म कुछ इस तरह बनता है कि उनकी कहानियाँ लघुकथा नहीं लगतीं और एकांकी

लघुनाटक या पूर्ण नाटक की संश्लिष्टता और जटिल संरचना में रचे दीखते हैं। यह सब सायास नहीं होता। भुवनेश्वर जब कहानी लिखते हैं, तो वह कहानी ही लगती है, नाटक नहीं और जब नाटक लिखते हैं, तो लगता है यह बात 'नाटक' में ही कही जा सकती थी। क्या 'भेड़िये' कहानी नाटक बन सकती है? और क्या 'ताँबे के कीड़े' कहानी बन सकता है? कथाशिल्प और नाट्यशिल्प का अन्तर दोनों की विशेषताएँ उनकी लेखनी में बहुत स्पष्ट हैं। 'भेड़िये' में चरित्र और स्थितियाँ पूरी गति से उनके हाथों से निकलती चली जाती हैं। खारू के चरित्र में एक बनजारे का जो दबंगपन, निडर व्यक्तित्व है, जिस तरह वह कहानी सुनाता है और बाद में ज़ोर से हँसता है, फिर खखारकर ज़मीन पर बहुत-सा थूक देता है—वह सब पढ़ते ही बनता है। लगातार एक भयानक संग्राम, प्राण-रक्षा और उसके बीच अनुभव, आयु, रिश्ते, प्यार, ज़िम्मेदारी, साहस, आतंक, कायरता, न जाने कितने-कितने भाव एक-दूसरे में गूँथते जाते हैं। वे अपने नाटकों में हर फ़ार्म को तोड़ते हैं, फिर रचते हैं। वह न क्रान्तिकारी हैं, न अस्वीकारवादी, न अस्तित्ववादी। निराला की तरह उन्हें किसी वाद, किसी फ्रेम से बँधा हम नहीं पाते। 'ऊसर' एकांकी में गृहिणी और लड़कियाँ, जो शब्द-लेखन का खेल खेलती हैं—बिजली, अँधेरा, बाथरूम, शाहनज़फ़ रोड, सेक्स आदि—इन्हें लिखकर वे अपने दमित यौन ग्रन्थियों को व्यक्त करती हैं। गृहस्वामी के दोहरे चरित्र को भी लेखक ने पूरे हृदय से व्यंजित किया है।

यद्यपि उनके एकांकियों को कथ्य, शैली-शिल्प के आधार पर चार भागों में विभाजित करके देखा जाता रहा है—1. प्राब्लेम प्ले—शॉ एवं इब्सन से प्रभावित नाटक, 2. लारेन्स से प्रभावित नाटक—प्रेमविवाह और यौन विचित्रताओं से जुड़े, 3. एब्सर्ड शैली के नाटक और 4. ऐतिहासिक नाटक। ये विभाजन सुविधा की दृष्टि से भी हैं और भुवनेश्वर की जीनियस प्रतिभा का सही मूल्यांकन न हो पाने के कारण भी है। हम प्रायः प्रभावों की दृष्टि से विवेचन के अभ्यस्त रहे हैं, जबकि आज के सन्दर्भ में अर्थात् भुवनेश्वर के बहुत-से अप्रकाशित, अप्राप्त रचना सामग्री के प्रकाशन के बाद उनकी निजी मौलिकता और विशिष्टता को पहचानना आवश्यक है। उनके नाटकों के भीतर जो नाटक है, अर्थ-विस्तार है और 'खेल' हैं, उसकी प्रयोगधर्मी सम्भावनाएँ रंगमंच पर ही पहचानी जा सकती हैं। यह खेल, यह कौतुक वृत्ति और साहसिकता उनकी रचनाधर्मिता है, जो आलोचना, उनकी टिप्पणियों और कहानियों में भी मिलती है—भाषा से वह बराबर एक तुर्शी पैदा करते हैं। केवल साहित्यिक दृष्टि और ख़ानों में बाँटकर न भुवनेश्वर की भाषा-शक्ति को अनुभव किया जा सकता है, न शिल्प की ताज़गी और लचीलेपन के भीतर जटिल ताने-बाने को। उनकी भाषा और शिल्प में पूरे साहित्य में 'अनपलट अन्तर' लाने की शक्ति है।

---

# 11
# मूल्यांकन

भुवनेश्वर का हिन्दी साहित्य में सही मूल्यांकन पहले प्रेमचन्द ने किया था कि उनके युवा लेखक की प्रतिभा और वाक्‌चातुरी को पहचाना। फिर कवि और असंगत नाटक के रचनाकार विपिन कुमार अग्रवाल ने उन्हें 'नये नाटक का जन्मदाता' कहा और 1935 में *कारवाँ तथा अन्य एकांकी* की लम्बी भूमिका में उनकी संवेदना, सजगता, भाषा-शक्ति और विश्व साहित्य के इतिहास में उनकी जीनियस प्रतिभा को सम्पादित किया ओर रेखांकित किया कि भुवनेश्वर में समय और इतिहास को बदल डालने की शक्ति है। बाद में पुनः सातवें दशक में कृष्ण नारायण कक्कड़ के अथक प्रयासों से और शुकदेव सिंह द्वारा उनकी नयी उपलब्ध रचनाओं के संकलन से, उनके नाटकों के प्रस्तुतीकरण और समीक्षा से भुवनेश्वर का पुनर्मूल्यांकन आरम्भ हुआ। शाहजहाँपुर में 'भुवनेश्वर शोध संस्थान' की स्थापना और राजकुमार शर्मा (अध्यक्ष) द्वारा उनके अप्रकाशित, अप्राप्त साहित्य की खोज, उसका प्रकाशन, भुवनेश्वर के नाटकों पर प्रस्तुतियाँ और सेमिनार वर्तमान दृष्टि से मूल्यांकन के आधार बनते हैं, लेकिन भुवनेश्वर की जटिलता को समझना एक कठिन दायित्व है। उनका बहुआयामी, स्वतन्त्र व्यक्तित्व था, जिसमें कबीर का फ़क्कड़पन, मस्तमौलापन तो था, साहस भी था, पर वस्तुतः वह बहुत गहरे बुद्धिवादी थे, उनमें निराला का ओज और महाप्राणत्व नहीं था, पर अनेकस्तरीय सूक्ष्म, अन्तर्बाह्य की संश्लिष्टता थी और विरोधी तत्त्वों का सामंजस्य था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ज़िन्दादिली, भाषा का—ख़ासकर रंगमंच की भाषा का—लचीलापन, जीवन्तता उनमें थी और प्रेमचन्द का मनुष्य से गहरा लगाव भी, पर सब मिलकर भुवनेश्वर अपने में अलग और अकेले थे। अनेक कारणों से वे एक विवादास्पद और वर्षों तक गुमनाम लेखक रहे, पर समय आने पर उनकी जीनियस प्रतिभा को, पहचाना गया। इधर 'हंस' पत्रिका में उनकी 'भेड़िये' कहानी का पुनर्प्रकाशन हुआ और उस पर तेज़ बहस छिड़ी। भुवनेश्वर स्वयं बहुत गम्भीर कहानीकार, नाटककार, कवि, आलोचक, निबंधकार हैं। वे चिन्तक और भीतर से दार्शनिक हैं। उनकी रचनाओं में उनके बयान, निष्कर्ष, निर्देश ध्यान देने योग्य हैं। उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं है, बल्कि उनका स्पष्ट

मत है। अपने साहित्य से किसी प्रकार का दिशा-संकेत देना उनका लक्ष्य नहीं है। वे सारे भ्रम तोड़ते हैं और उन भ्रमों का तोड़ने में ही कुछ संकेत कर जाते हैं, जिसे तलाशना होता है। भुवनेश्वर से जुड़ी बहुत-सी घटनाएँ, अनेक प्रसंग हैं, उन्हें इतनी संकीर्ण दृष्टि से, सतहीपन से देखना ठीक नहीं है—उन सभी प्रसंगों को, विवादों को व्यापक मानवीय सन्दर्भ में, संवेदनात्मक दृष्टि से, सर्जनात्मक अर्थ में देखना आवश्यक है। 'शिष्टता जीवन का एक पूरा आउटलुक (Outlook) है।' जीवन और साहित्य में भी वे सीमाएँ तोड़ते रहे। जाति, धर्म, सामाजिक वर्जनाएँ, रूढ़ियाँ, साहित्यिक मान्यताएँ—सीमाएँ सब वे तोड़ते रहे। भीतर से भुवनेश्वर चिन्तक है, ईश्वर, सृष्टि, मनुष्य, जीवन के बारे में, सोचने के लिए उनका साहित्य नये विचार देता है।

यह कहना पर्याप्त नहीं है कि भुवनेश्वर ने कम साहित्य लिखा या एकांकी लिखे—इसलिए उन पर गम्भीर विचार नहीं हुआ, क्योंकि चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' एक ही कहानी 'उसने कहा था' से अमर हो गये—साहित्य का इतिहास बदलने की ताक़त 'ऊसर', 'ताँबे के कीड़े', 'भेड़िये', 'आदमख़ोर' जैसी सशक्त रचनाओं में है। 'आदमख़ोर' तो बिलकुल आज का नाटक लगता है—संघर्ष, यन्त्रणा, शोषण, पीड़ा, मानवीय पीड़ा और रंगमंच के तनाव की क्रियात्मक रचना। धर्मवीर भारती का *अंधायुग* साहित्य में काव्य नाटक के रूप में पड़ा रहा, वह कालजयी रचना तब बना, जब उसे रंगमंच की सर्जनात्मक शक्ति मिली। भुवनेश्वर के 'ताँबे के कीड़े' के साथ भी यह हो सकता था। अगर *वेटिंग फार गोदो* की मंचन-शृंखलाएँ देशभर में छा सकती हैं, तो 'ताँबे के कीड़े' को भी वही प्रतिष्ठा मिल सकती थी—हिन्दी साहित्य विशेषकर हिन्दी नाटक, भाषा और रंगमंच की अस्मिता का यह भूलभूत प्रश्न है। रंगमंच के इतने लम्बे, समृद्ध विकास-क्रम में उनका 'आज़ादी की नींद' एकांकी भी भारत का भावी और वर्तमान चित्र है। भुवनेश्वर की रचनाएँ हमारा स्वप्न-भंग करती हैं। प्रायः उनकी प्रासंगिकता का प्रश्न भी उठाया जाता है। प्रासंगिकता का प्रश्न इसलिए बेमानी है कि भुवनेश्वर कालजयी साहित्यकार हैं। उनके 'स्टेटमेण्ट', उनके 'जजमेण्ट' तब नहीं समझ में आते थे, नितान्त विरोधी ऊलजलूल लगते थे। अब इतने लम्बे समय के बाद, इतने मानसिक बौद्धिक बदलाव के बाद उनके व्यंग्य अर्थ सब समझ में आते हैं या कहा जा सकता है कि हम उन्हें समझने के लिए मानसिक-बौद्धिक रूप से तैयार हैं।

भुवनेश्वर ने पश्चिम के साहित्य का बहुत अध्ययन किया था। वे 'इण्टेलैक्चुअल हौवा' भी बने हुए थे अपने भाषा-अधिकार और वक्तृता-गुण के कारण भी। उस समय लोग या तो उनके 'पश्चिमी प्रभावों' में उलझकर रह गये या नकारात्मक पक्ष में। समाज, धर्म, सम्बन्ध, परिवार सबकी सीमाओं को, भ्रमों को तोड़ता हुआ लेखक लोगों को स्वीकार नहीं था। आज आवश्यकता यह है कि

भुवनेश्वर के साहित्य का, उनके महत्त्वपूर्ण पक्षों का मूल्यांकन किया जाए। उनकी जो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—उनसे, उनके स्केच, कविताओं और कहानियों से उनके व्यक्तित्व और साहित्य के गम्भीर, विशिष्ट पक्षों को आलोचक उजागर करें। उनके विषय में फैले हुए भ्रमों को तोड़कर शाश्वत, रचनात्मक जीवन-सत्य का अन्वेषण आवश्यक है।

भुवनेश्वर तो इतने स्पष्ट, ईमानदार लेखक थे कि वे अपेक्षाएँ नहीं करते हुए भी 'लेखक के अधिकार' को बहुत महत्त्व देते थे। अगर लेखक अपना तन-मन-मस्तिष्क, जीवन का सार निचोड़ दे रहा है, तो समाज और, राजनीति का दायित्व उसके प्रति कुछ नहीं है?—ये विचार उनके रहते थे।

भुवनेश्वर का साहित्य इसका साक्षी है कि वे एक ऐसे रचनाकार हैं, जो किसी वाद या विचारधारा से बँधा नहीं है और जिसने अपनी भविष्य-स्रष्टा वाणी या लेखन से सबको चकित कर दिया था। वे न छायावाद के विरोधी बनकर आये, न गाँधीवादी हैं, न प्रगतिवादी हैं, न प्रयोगवादी, न अस्तित्ववादी और एब्सर्ड नाटककार। उनमें 'नया नाटक' भी है, 'नयी कहानी' भी है, पर वे किसी सीमा या शब्दावली से बन्धे नहीं हैं। वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं, गम्भीर विचारक हैं। उनमें न अस्वीकारवाद है, न विद्रोह और न मनोवैज्ञानिक का भ्रम। यथार्थवाद और आदर्शवाद जैसे बन्धनों से वे सर्वथा मुक्त हैं। यद्यपि उनमें सब है—यथार्थवादी से ज़्यादा कटु और भीतरी यथार्थ को वह चित्रित कर डालते हैं—निर्मम होकर। आदर्शवाद की वे धज्जियाँ उड़ा देते हैं, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का विवेचन क्या फ्रायड करेंगे, जैसे भुवनेश्वर सेक्स ग्रन्थियों के सन्दर्भ में, हँसी-हँसी में या सहसा खोलकर रख देते हैं—'ऊसर' इसका प्रमाण है। उनका मानवीय राग, मानवीय पीड़ा, 'आदमख़ोर' में, 'मास्टरनी', 'मौसी' में मूर्त हो जाती है। 1920-22 से 1956 तक का उनका रचनाकाल लगभग पैंतीस वर्ष के उस देशव्यापी इतिहास का, उतार-चढ़ावों का, उथल-पुथल और परिवर्तनों का काल है, जो हर साहित्यकार को उद्वेलित करता था और उसके सामने जीवन-जगत् के प्रश्न खड़े करता था। उसमें स्वाधीनता-संघर्ष भी है, सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष भी, विद्रोह और जन-जागरण भी, नारी-मुक्ति के प्रश्न भी हैं और उससे जुड़े सामाजिक-पारिवारिक-नैतिक प्रश्न भी, प्रेम का त्रिकोण भी है, प्रेम की परिभाषा भी।

भुवनेश्वर ने कविताओं के ज़रिये भी जीवन-संघर्ष और युग के विषम यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। साहित्य की अमरता में उनका विश्वास नहीं था—जीवन और साहित्य दोनों को अनन्त परिवर्तनशील मानते हुए उनकी कविताएँ भले ही अंग्रेज़ी में हों, वे जीवन को अभिव्यक्त करती हैं—वे जीवन के अर्थ समझने का आधार हैं—

*"नदी के दोनों पाट लहराते हैं*
*आग की लपटों में*

*दो दीवालिये सूदख़ोरों का सीना*
*जैसे फुँक रहा हो*
*शाम हुई कि*
*रंग धूप तापने लगे*
*अपनी यादों की*
*और नींद में डूब गयी वह नदी*
*वह आग*
*वह दोनों पाट, सब कुछ समेत"*

यहाँ उनके बिम्ब, प्रतीक, उनके अनुभव उस समय की रोमांटिक कविता से बिलकुल अलग हैं—कविता की भाषा, शिल्प में नयापन है। कविताएँ लिखना उन्होंने जल्दी ही बन्द कर दिया था, इसलिए उनका महत्त्व भुवनेश्वर के व्यक्तित्व और उनकी रचनात्मक छटपटाहट को समझने की दृष्टि से, उनकी विचार-दृष्टि और भाषा को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

भुवनेश्वर की मुख्य विधा नाटक है और उसके बाद कहानी। युग की विषमताओं और विसंगतियों को उन्होंने नाटक के माध्यम से व्यक्त किया। उन्होंने एकांकी विधा और असंगत नाट्यधारा को बहुत समृद्ध किया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी में रंगमंच का तब अस्तित्व न होने के कारण उनके नाटकों का यह उत्कर्ष नहीं हुआ। न रंगमंच से उसका गम्भीर सम्बन्ध बना, उल्टे उनके एकांकी केवल इतिहास की वस्तु बनकर रह गये।

छायावाद की अतिमानवीयता, उदात्तता को भुवनेश्वर नकार रहे थे। प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, प्रसाद की उदात्त सांस्कृतिक चेतना और लक्ष्मीनारायण मिश्र की तार्किकता और समस्या को वे स्वीकार नहीं कर रहे थे। प्रसाद के बाद लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों से क्रान्तिकारी मोड़ आये। समस्या और संघर्ष, बुद्धिवादी दृष्टिकोण, तर्क और भावुकता एवं कल्पना का विरोध मुखर हुआ। पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शा के प्रभाव, नाठक, रंगमंच और भाषा पर, सामाजिक-वैयक्तिक चिन्तन पर बड़ी तेज़ी से पड़े। व्यक्ति और समाज का परस्पर संघर्ष और उसमें व्यक्ति की रक्षा के सारे प्रयास महत्त्वपूर्ण हो गये। व्यक्ति और समाज के बीच के द्वन्द्व का चित्रण इन रचनाकारों ने जिस मार्मिकता, कौशल और सूक्ष्मता से किया, उसने पूरे विश्वसाहित्य को प्रभावित किया—इंग्लैण्ड में बर्नार्ड शॉ की धूम मच गयी, 1926 में उन्हें नोबेल पुरस्कार भी मिला। यह बुद्धिवादिता, यथार्थ और व्यंग्य, व्यक्ति और समाज की स्वतन्त्रता, रूढ़ियों की जकड़न से मुक्ति, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और शिल्प की ताज़गी भुवनेश्वर में प्रत्यक्ष दीखीं, नाटक इतिहास एवं पुराण के ढाँचे से, बधी-बँधायी पूर्वनिर्धारित अवधारणा से बाहर निकला, पात्र और भाषा नितान्त स्पष्ट, तीखे और बेबाक ढंग से सामने आये।

व्यक्ति और सामाजिक चेतना इतनी प्रबल हुई कि भावोच्छ्वास, अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ, आवेग, आर्द्रता-गीतात्मक तरलता सब पीछे छूटते गये। शॉ ने रोमांटिक नैतिकता के स्थान पर यथार्थवादी नैतिकता को स्थापित किया। उनका 'कैंडिडा' इसका प्रमाण है। बर्नार्ड शॉ के प्रत्यक्ष प्रभाव को आलोचकों ने भुवनेश्वर में, उनके *कारवाँ* में स्पष्टतः देखा। भुवनेश्वर ने इसे स्वीकार भी किया है। वह 'निहिलिस्ट' विचारक थे, इसलिए उन्हें यह सब कुछ और महादेवी वर्मा की करुणा, निराला का उदात्त सौन्दर्य स्वीकार नहीं था, वह इन सबको नकार रहे थे और अपने नाटकों में ऐसा यथार्थ ला रहे थे, जो भयानक और बेहद कटु था, अप्रिय था। वे साहित्य में स्थापित मानव की गरिमा को स्वीकार नहीं कर पाये। छायावाद अगर गरिमा को चित्रित कर रहा था, तो भुवनेश्वर बिलकुल विपरीत रूप को। जीवन के स्थापित मूल्य उनके लिए अप्रासंगिक हैं। लेकिन अपने साहित्य में वे मानव-जीवन के लिए कोई स्थायी मूल्य नहीं देते। सम्भवतः भुवनेश्वर का ध्यान परिवार और सम्बन्धों पर उतना नहीं था, जितना उस विकृत समाज को, रूढ़ियों को, भीतरी विडम्बनाओं को पूरी नाटकीयता को खोलना और तोड़ना। उसमें ही वे प्रेम, रिश्ते, माता-पिता, स्त्री-पुरुष को सहसा नयी मान्यताओं के साथ लेते हैं। यहाँ नाटककार अपने एकांकियों में जिन बातों को, मूल्यों को बड़े तीखेपन और कटुता से नकारता है, उसी से संकेत अवश्य मिलता है कि वह मानव की चिन्ता कर रहे हैं, विकासशील समाज की चिन्ता कर रहे हैं। उनके चित्रण में जो जिजीविषा और प्रतिभा है, वह इस सृष्टि के प्रति उनकी गहरी चिन्ता का प्रमाण है।

भुवनेश्वर ने अपनी रचनाओं से गद्य को बेहद सर्जनात्मक भाषा की गठन व्यंजना, लय और चमक दी। नाटक और कहानी की गद्यभाषा की संश्लिष्टता और संक्षिप्तता दी। भुवनेश्वर हिन्दी के विलक्षण गद्यशिल्पी हैं—छोटे आकार उनकी हर विधा में हैं, पर इस आकार की लघुता से उनकी अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रतीकात्मकता, संकेत, व्यंजना, समग्रता उनकी विशेषताएँ बनकर आयीं। कहानीकार भुवनेश्वर और नाटककार भुवनेश्वर दोनों रूप में वे बहुत सजग, संवेदनशील शिल्पी हैं। फ़ैंटेसी, भाषा और क्रियाशीलता का जो सघन, अन्तरंग रिश्ता भुवनेश्वर में है, वह हिन्दी में बहुत कम मिलता है। उनकी कहानी कहानी ही है और नाटक नाटक ही। न कहानी में नाटकीयता के प्रयास किये जाते हैं, न नाटक में कथा तत्त्व और संवादात्मकता का भार दिखायी देता है। दोनों में पाठक और दर्शक को वे अलग नहीं होने देते और अलग करते भी रहते हैं। उनका गद्यशिल्प पूर्वनिश्चित नहीं होता।

अब भी भुवनेश्वर का बहुत-सा साहित्य अप्राप्य और अप्रकाशित है—'मृत्यु', 'हम अकेले नहीं हैं', 'सवा आठ बजे', 'कठपुतलियाँ', 'अकबर', 'चंग़ेज़ ख़ाँ' और 'सींकों की गाड़ी' आदि। गोगोल के नाटक 'इंस्पेक्टर जनरल' का एकांकीकरण भी

उन्होंने किया था। यह महत्त्वपूर्ण रचना है। इसका नाट्य-रूपान्तर और मंचन तो आठवें दशक में मुद्राराक्षस और बंसी कौल ने किया। आश्चर्य है इस कृति पर और उसके एकांकी विधा में नाट्य रूपान्तरण पर इतने वर्ष पूर्व भुवनेश्वर का ध्यान गया। आकाशवाणी, लखनऊ में उनकी बहुत सारी रचनाएँ पड़ी हैं, जो उपलब्ध नहीं हो सकीं। वे मुख्यतः कहानियाँ हैं—1946 से 1949 तक के बीच की। इस काल में भुवनेश्वर एक प्रतिष्ठित लेखक थे। कृष्णनारायण कक्कड़ का कहना है कि वे कहानियाँ अगर प्रकाशित हो जाएँ, तो भुवनेश्वर की विस्फोटक प्रतिभा देखकर बहुत आश्चर्य होगा। जिस प्रकार भुवनेश्वर के पर्याप्त न लिखने की बात कही जाती है, उसी प्रकार सत्य यह है कि उन पर लिखा भी बहुत कम गया। इस संघर्ष से भी भुवनेश्वर जूझते रहे और अकेले पड़ते गये, टूटते गये। भुवनेश्वर बराबर अपने भीतर से लड़ रहे थे। उनके निजी कार्यों की भी इतनी चर्चा थी कि साहित्य छूटता चला गया। भुवनेश्वर सभी प्रकार की असामान्य परिस्थितियाँ से जूझ रहे थे।

भुवनेश्वर के मूल्यांकन का प्रश्न एक प्रकार से पूरे हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न है। कवि शमशेर और भुवनेश्वर दोनों संघर्ष के कवि रहे हैं। दोनों की निकटता कहीं-न-कहीं उनके स्वभाव, उनकी ज़रूरतों और साहित्य-रचना के कारण थी। भुवनेश्वर के समय में और बाद में भी उसकी नयी चेतना कम पहचानी गयी, शेष क्रिया-कलाप ही चर्चा का विषय बने रहे। आज का समय भुवनेश्वर के मूल्यांकन, उनकी रचना-प्रतिभा को ध्यान में रखने में है। कवि और पत्रकार रघुवीर सहाय का मानना है कि भुवनेश्वर के पागलपन के लिए समाज की क्रूरता, व्यवस्था-पोष और यथास्थितिवादी तत्त्व ज़िम्मेदार हैं। 'शुरू में वह एक लिखने का शौक़ीन था, बीच में एक कठिन संग्राम करता हुआ, कलाकार और बाद में एक कैरेक्टर।' (माधुरी, नवम्बर, 1936, पृ. 606) अन्त में लक्ष्मीकान्त वर्मा जी ने भुवनेश्वर के तीन रूपों को बताया है, एक 'भुवनेश्वर प्रसाद'—मध्यवर्ग अपवादों, विसंगतियों से भरा जो उनके प्रारम्भिक नाटकों में मिलता है, दूसरा रूप है केवल 'भुवनेश्वर', जिसमें उनकी श्रेष्ठतम रचनाएँ आती हैं और जिन्हें अराजक, असामाजिक बता दिया गया और तीसरा रूप 'हाड़ा' का है—यहाँ वे ग्रीक माइथोलॉजी के अनेक पात्रों के साथ रहस्य लोक में हैं—यहाँ तनाव-मुक्ति है, आध्यात्मिकता का सुख है—यह आध्यात्मिकता समझ में आती, तब तक भुवनेश्वर की मृत्यु हो गयी। एकांकी और कहानी के कलेवर और शिल्प में उनके गद्य, उनके अभिव्यक्ति-कौशल का जो रूप आया, उसके आगे लोग नतमस्तक थे।

अब इतने सालों के बाद, भुवनेश्वर के बाहरी व्यक्तित्व पर ध्यान केन्द्रित करना उचित नहीं है। आलोचना और सृजन की दृष्टि से भुवनेश्वर के कृतित्व से, उनकी भाषा और गद्यशिल्प से उनके व्यक्तित्व की अनेक परतों को, उनके मन-मस्तिष्क में चल रहे द्वन्द्व को जाना जा सकता है—अभी भी विस्तार से, गहराई

से यह आलोचनात्मक एवं सर्जनात्मक प्रयास अपेक्षित है, क्योंकि आज गिने-चुने साहित्यिक मित्रों के अतिरिक्त भुवनेश्वर को जानने-समझने का कोई रास्ता नहीं है। 'भेड़िये', 'ताँबे के कीड़े', 'आज़ादी की नींद', 'ऊसर', 'आदमख़ोर' उनकी वे रचनाएँ हैं, जो हर दृष्टि से विश्व साहित्य के इतिहास में उन्हें उच्च स्थान दिलाती हैं। इसलिए आज के सन्दर्भ में प्रश्न सहानुभूति का, या औपचारिकता का नहीं है, प्रश्न है भाषा की अस्मिता और हिन्दी साहित्य की शक्ति का, सर्जनात्मक एवं समीक्षात्मक रचना-मूल्यों का। भुवनेश्वर का कृतित्व, उनका व्यक्तित्व भी मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन के लिए निरन्तर प्रेरित करता है।

# भुवनेश्वर : साहित्य

## एकांकी

- श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना — 1933
- प्रतिभा का विवाह — 1933
- शैतान — 1934
- एक साम्यहीन साम्यवादी — 1934
- रोमांस-रोमांच — 1935
- लाटरी — 1935
- स्ट्राइक — 1938
- ऊसर — 1938
- आदमख़ोर — 1938
- रोशनी और आग — 1941
- ताँबे के कीड़े — 1946
- आज़ादी की नींद — 1949
- जेरूसलम को — 1949
- सिकन्दर — 1949
- ख़ामोशी

## अन्य एकांकी

- मृत्यु — 1936
- हम अकेले नहीं हैं — 1936
- सवा आठ बजे — 1936
- कठपुतलियाँ — 1942
- फ़ोटोग्राफ़र के सामने — 1945
- इतिहास की केंचुल — 1948
- अकबर — 1950

- चंगेज़ ख़ाँ — 1950
- सींकों की गाड़ी — 1950

## कहानियाँ

- मौसी — 1934
- हाय रे मानव हृदय — 1935
- लड़ाई — 1936
- एक रात — 1936
- माँ-बेटे — 1937
- भेड़िये — 1938
- मास्टरनी — 1938
- सूर्यपूजा — 1939

## कविताएँ

- A Dirge (if it may)
- Somewhere
- The Birth of Christ
- The Romance of the Sprmetozoa
- In the conducts of the mind
- The Ruth
- The mist of the eyes
- Rain upon Rain
- Open Sesema
- On both sides of the River
- ग़रीबी की पछोड़ में
- विश्वास/अँगीठी
- ओ प्राण पपीहे, बोल बोल

## प्रतिक्रियाएँ/आलोचना

- कवि सम्मेलन में अक्षम्य अशिष्टता
- सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

- प्रेमचन्द जी का स्वर्गवास
- भाभी कॉम्प्लेक्स और कार्ल मार्क्स
- शब्बीर हसन 'जोश'

## सहायक ग्रन्थ


1. *कारवाँ तथा अन्य एकांकी* : भुवनेश्वर प्रसाद, भूमिका : विपिन कुमार अग्रवाल, सं. 1972
2. *भुवनेश्वर की रचनाएँ* : शुकदेव सिंह
3. भुवनेश्वर साहित्य : (सं.) राजेश्वर सहाय बेदार, राजकुमार शर्मा, प्र. सं. 1992
4. *भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व*, (सं.) राजकुमार शर्मा, प्र. सं. 1992


---

हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न नाटककार और साहित्यकार भुवनेश्वर (पूरा नाम भुवनेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव) की जन्मतिथि ही नहीं, जन्मवर्ष भी विवादग्रस्त रहा है। यह कहीं 1910 तो कहीं 1914 बताया गया है। उनके पिता का नाम ओंकारबख्श था। माता की मृत्यु तभी हो गई, जब भुवनेश्वर केवल डेढ़ साल के थे। निम्नवित्त परिवार में अभाव और असुविधाओं से निरन्तर जूझते हुए उनका अभिशप्त जीवन कभी सामान्य नहीं हो पाया।

हिन्दी के चर्चित, विवादास्पद, विलक्षण सर्जनशील एवं अध्ययन-सम्पन्न इस रचनाधर्मी कवि, कथाकार, एकांकीकार, असंगत नाटककार, आलोचक, सम्पादक और चित्रकार का व्यक्तित्व इतने रूपाकारों में ढला है कि किसी के लिए यह विश्वास करना आज भी कठिन हो सकता है कि एक साथ कई विधाओं में कोई रचनाकार प्रवृत्त हो सकता है—और वह भी इतनी प्रतिकूल स्थितियों में।

भुवनेश्वर ने छायावादी युग में भी साहिय की मूल धारा से हटकर सर्वथा नवीन और मौलिक उद्‌भावनाओं के साथ अपने नाटकों को व्यंग्यमुखरित किया। उनकी एकांकियों में भी जहाँ प्रयोगात्मकता है, वहाँ सामाजिक चेतना और मंच को एक सामाजिक कर्म बनाने की सार्थक पहल भी है। उनकी कृतियों में जहाँ एक तरह की नाराज़गी मिलती है, वहाँ दुनिया की समझदारी भी। यह बात हमें और भी हैरान करती है कि उनमें निराशा या हताशा का स्वर नहीं, बल्कि दुर्दम्य जिजीविषा और आक्रामक प्राणवत्ता है। अपनी भाषा, रचना की अन्तर्वस्तु और उसके बाह्य निरूपण में वे अप्रतिम हैं। यही कारण है कि अपने समकालीन या परवर्ती नाटककारों में भी उनकी टक्कर का कोई दूसरा नाटककार हिन्दी को अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। वे अपने नाटकों में हर फॉर्म को तोड़ते हैं और उन्हें फिर रचते हैं। इस तरह न वे परम्पराधर्मी हैं, न क्रान्तिकारी हैं, न अस्वीकारवादी और न अस्तित्ववादी।

इस विनिबन्ध की लेखिका डॉ. **श्रीमती गिरीश रस्तोगी** हिन्दी की सुप्रसिद्ध समीक्षक, रंगकर्मी और नाटककार हैं। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन के साथ आपने कई नाटकों का निर्देशन किया है। नाट्य-रूपान्तरों और उनकी मंच-प्रस्तुति से आपने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है। महादेवी वर्मा पुरस्कार, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से सुभद्राकुमारी चौहान पुरस्कार और उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्राप्त डॉ. रस्तोगी ने देश-विदेश की यात्राएँ भी की हैं। हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय से कार्यमुक्त होने के बाद आप इन दिनों लेखन में व्यस्त और रंगकर्म में सक्रिय हैं।

ISBN 81-260-1029-0

मूल्य : 25 रुपये